…हापुराण में

…णुगीत

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



संकलनकर्त्री

श्रीमती सतीशबाला जेठी

श्रीमद्भागवत महापुराणमें

वेणु-गीत

प्रवक्ता

अनन्तश्री

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



संकलनकर्त्री

श्रीमती सतीशबाला जेठी

प्रकाशक :
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६
बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई–४००००६

प्रथम संस्करण : ५०००
गीता जयन्ती : २०३१
दिसम्बर : १९७४
मूल्य : तीन रुपया मात्र

मुद्रक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सी-के० ३६/२०
वाराणसी—२२१००१



अनन्तश्री
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रकाशकीय

'वेणु-गीत' आपके हाथोंमें देते हुए हमें आज बड़ी ही प्रसन्नता है। यह श्रीमद्भागवत महापुराणका परम सरस अंश है। यह सर्वविदित है कि पू० श्री महाराजजी (अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी) इस महापुराणके अद्वितीय वक्ता हैं। उनके श्रीमद्भागवत-प्रवचनके विराट् आयोजन देशके विभिन्न नगरोंमें समय-समयपर साप्ताहिक-पाक्षिक रूपोंमें होते रहते हैं और हजारोंकी संख्यामें नियमित रूपसे आप भावुक सम्मिलित होकर लाभ उठाते हैं। हम भी लाभान्वित हुए। उन प्रवचनोंका टेप-रिकार्ड किया गया। उनमेंसे विभिन्न दृष्टिकोणोंसे हुए कुछ प्रवचन सारांश रूपमें 'भागवत-विचार-दोहन', 'मानवजीवन और भागवत-धर्म', 'कपिलोपदेश', 'गोपी-गीत' नामोंसे प्रकाशित किये जा चुके हैं। इसी कड़ीमें यह मणि 'वेणु-गीत' हम प्रस्तुत कर रहे हैं। आरम्भमें 'वेणु-गीत' का मूल-पाठ और अन्तमें उसका श्लोकशः अर्थ भी दिया गया है।

इस 'वेणु-गीत'-प्रवचनका आयोजन श्रीमती सरला बिरला (श्री वसन्त कुमार बिरला) द्वारा गीता-मन्दिर, दिल्लीमें किया गया था और इसका सम्पूर्ण संकलन श्रीमती सतीशबाला जेठी द्वारा किया गया। यह काम कितना मनोयोग, श्रम तथा योग्यताका है, इसका अनुमान आप कर सकते हैं। हमें इस लगनकी प्रशंसा संकलनकर्त्रीके न चाहते हुए भी करनी पड़ती है। इस प्रसंगमें हम यह भी बताना चाहेंगे कि उनके पति डा० महेन्द्रलाल जेठीकी अपनी स्वाभाविक उदारता, सहिष्णुताने इस कार्यमें हमें और भी अधिक सहयोग प्रदान किया, जिनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। पुस्तक-प्रकाशनमें उनकी रुचि और आर्थिक सहायता उल्लेख्य है।

सदाकी भाँति पं० श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकरका सहयोग सम्पादन-प्रकाशनमें तो प्राप्त ही था।

अब यह भागवत-जनोंके हाथोंमें है, यह उन्हींकी वस्तु है।



अ नु क्र म

श्रीमद्भागवत-महापुराणान्तर्गतं

वेणुगीतम्

[दशम-स्कन्धे एकविंशोऽध्यायः]

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥

कुसुमित - वनराजि - शुष्मभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाऽशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्[1] ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥

चूतप्रवाल - बर्ह - स्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्त - परिधान - विचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥ ९ ॥

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद्देवकीसुत - पदाम्बुज - लब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्या-ऽद्रिसान्वपरता-ऽन्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

---

१. मनोरमम् ।

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्[1] ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गत - वेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाऽश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥

प्रायो बताम्ब विहगा[2] मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त - लक्षित - मनोभव - भग्नवेगाः ।
आलिङ्गन - स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

---

१. विविक्तगीतम् । २. मुनयो विहगा ।

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शन - स्मर - रुजस्तृण - रूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीय - सूयवस - कन्दर - कन्दमूलैः ॥१८॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योग - पाशकृत - लक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥२०॥

श्रीमद्भागवत महापुराणमें

वेणुगीत

स्वयं भगवान्‌ने अपनी समग्र प्रजाको करुणा करके जो पूर्णताको प्राप्तिके लिए उपाय बतलाये हैं, उनका नाम है श्रीमद्-भागवत। पशु-पक्षी भी भगवान्‌से प्रेम कर सकते हैं। लता-वृक्ष भी भगवान्‌से प्रेम करें। गाय भी भगवान्‌से मिलें, ग्वाला भी भगवान्‌से मिले। यानी सब भगवान्‌की ओर, पूर्णताकी ओर बढ़ें; इसके लिए भगवान्‌ने करुणापरवश होकर श्रीमद्भागवतको प्रकट किया है :

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्संप्रकाशितम्॥

(भाग० १२.१३.१०)

पहली बात इसमें यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बड़े-बड़े अधिकारियों, यज्ञोपवीतधारी वैदिकमात्रके लिए या उन्हींका कल्याण करनेके लिए श्रीमद्भागवतका आविर्भाव नहीं हुआ है। बल्कि जो उन उच्च अधिकारोंसे वंचित हैं, संस्कार-विहीन हैं, पशु-पक्षी हैं उनके कल्याणके लिए भी श्रीमद्भागवतका अवतरण है। इसमें पृथ्वी भी भगवद्भक्त है, दूर्वा भी भगवद्भक्त है। इसमें जमुना-जल भी भगवद्भक्त है। मोर भी भगवद्भक्त हैं। सारस, हंस भी भगवद्भक्त हैं। गाय-बछड़े भी भगवद्भक्त हैं। आप सर्वथा उदास न हों, निराश न हों। आपके हृदयमें विद्यमान रहनेके लिए भगवान् भागवतके रूपमें नहीं आये हैं, वर्तमान होनेके लिए आये हैं। ब्रह्म विद्यमान है और श्रीकृष्ण वर्तमान

हैं। विद्यमानतामें और वर्तमानतामें अन्तर होता है। वैसे जो भाषाविद् हैं वे इस बातको जानते हैं। विद्यमान निष्क्रिय सत्ता है, परन्तु वर्तमान सक्रिय सत्ता ही होती है। विद्यमान सत्ता अपनी ओरसे कार्य नहीं करती और वर्तमान सत्ता अपनी ओरसे कार्य करती है। भगवान् हमारे हृदयमें क्रियाशील हों, अपनी ओरसे कुछ काम करें। आओ, यह बात वेणुगीतसे जानें। इसके पूर्व भागवतके बहुत-से अध्याय पूर्ण हो चुके हैं। अब ३३५ मेंसे केवल एक सौ चौदह अध्याय शेष हैं।

वेणुगीतका अर्थ क्या है? वक्ताकी प्रधानतासे भी गीतका वर्णन करते हैं। जैसे : गोपी-गीत है, गोपियोंके द्वारा गाया गया। विषयकी प्रधानतासे भी गीत होता है जैसे : ब्रह्मगीता। भगवद्-गीता वक्ताकी प्रधानतासे है और ब्रह्मगीता विषयकी प्रधानतासे। पर वेणुगीत जो है, उसमें वक्ता लापता है। देखो :

भगवता वेणुद्वारा गीतं वेणुगीतम्।

भगवान्ने अपनी वेणु द्वारा जो गान किया है उसका उसमें वर्णन है। अथवा—वेणुमुद्दिश्य गोपीभिर्गीतम्। वेणुके उद्देश्यसे गोपियोंने उसका गान किया है। श्रीकृष्णने वंशीके द्वारा गान किया है, इसका अर्थ होता है आकर्षण। भगवान्ने सारी विश्व-सृष्टिको अपनी ओर आकृष्ट किया। फिर, गोपियोंने वेणुके उद्देश्यसे गान किया है। इसका अर्थ है कि गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति जो आकर्षण है उसके लिए श्रीकृष्णका नाम न लेकर अवहित्थासे —नायकका नाम छिपाकर मानो वे वंशीध्वनिपर मुग्ध हैं, बजानेवालेपर मुग्ध नहीं, इस रीतिसे—वेणु-गीतका गान कर रही हैं। कोई भी प्रेमी यह बताना नहीं चाहता कि हमारे हृदयका असली रहस्य क्या है? प्रेममें गोपनकी प्रक्रिया होती है।

अब वेणु द्वारा गीत, इस बातको ले लें तो हम यह देखेंगे कि भगवद्गीता यदि होती तो उसमें सत्य अथवा ज्ञानके निरूपणको प्रधानता होती। पर वेणुके द्वारा जो गीत होगा उसमें रसको प्रधानता होगी। 'आप सच बोलते हैं?' हाँ, बोलते हैं। अपनी जानकारीके अनुसार बोलते हैं? हाँ, अपनी जानकारीके अनुसार बोलते हैं। आपके जीवनमें सत्य भी है, ज्ञान भी है। परन्तु जो बोलते हैं उसमें आनन्द आता है या नहीं? आप बोलते हैं तो केवल सचाई बरतते हैं या केवल जानकारी बरतते हैं? केवल जानकारी बरतते हैं या आनन्द भी बरसते हैं? यदि आप सचाई और जानकारी बरतते हैं, परन्तु दूसरेके कानमें आनन्द नहीं डाल सकते, तो आपके हृदयमें ही आनन्द प्रकट नहीं हुआ। आप सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूप हैं, अंश हैं। आप यदि सत्यको प्रकट कर सकते हैं, ज्ञानको प्रकट कर सकते हैं, तो आनन्द भी आपके द्वारा प्रकट होना ही चाहिए, यह नियम है। मनुजीने यह नियम कर दिया :

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
(मनु० ४.१३८)

सत्यके साथ प्रिय होना आवश्यक है। तो, भगवद्गीता सत्य और ज्ञानकी प्रधानतासे भगवद्-वाणी है और वेणु-द्वारा गीत जो है वह आनन्दकी प्रधानतासे भगवद्-वाणी है। आकर्षण रसमें होता है। एकबार महात्मा गांधीने मालवीयजीसे श्रीमद्-भागवतका श्रवण किया। उन्होंने सुननेके बाद कहा : 'मालवीयजी, श्रीमद्भागवत श्रवण करनेके बाद मेरे हृदयमें धर्म-रसकी उत्पत्ति हुई है।' 'धर्मरस' शब्दका उन्होंने प्रयोग किया था। धर्मात्मा बहुत होते हैं। धर्मानुष्ठान बहुत करते हैं, परन्तु धर्ममें स्वाद आना, एक रस आना, यह एक बहुत दुर्लभ वस्तु है

यह वेणु-गीत सत्यमें, ज्ञानमें और परमेश्वरमें रसकी उत्पत्ति करनेके लिए है। इसके लिए माध्यम चुना गया है, वेणु। आप ध्यान दें तो वेदोंमें मनका जैसा वर्णन है, यहाँ मनके साथ परमात्माको मिलाकर वैसा वर्णन है। हम उस सङ्कल्पको सुनते हैं :

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
(शुक्लयजु:० माध्य० सं० ३४.१)

जब हम जागते हैं तो वह दूर चला जाता है और जब हम सो जाते हैं तो वह पास आ जाता है। आत्माको छोड़कर मन उड़ गया जागते समय और आत्माके पास आ गया सोते समय। अब भगवान् श्रीकृष्णका मन :

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायम्। (भागवत १०.४४.१६)

श्रीकृष्ण प्रात:काल गोचारणके लिए जाते हैं, इन्द्रियरूपी गायोंके पीछे-पीछे वृन्दावनमें विचरण करनेके लिए जाते हैं, सायंकाल लौट आते हैं अपने घर। तो, वेदने कहा मन जाता है और मन आता है। यहाँ वर्णन है कि मनके साथ भगवान् भी जाते हैं, मनके साथ परमात्मा भी आते हैं। अर्थात् जब आप व्यवहारमें जाते हैं तो परमात्मा आपके मनको छोड़ नहीं देता। आपकी आँखोंके पीछे-पीछे वह भी जाता है, कानोंके पीछे-पीछे वह भी जाता है, वाणीके पीछे-पीछे वह भी जाता है। तो, यह श्रीकृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं। यह नादाऽमृत नाद-सृष्टि है और एक है बिन्दु-सृष्टि। बिन्दु-सृष्टिकी अपेक्षा नाद-सृष्टिको सूक्ष्म मानते हैं। बिन्दु-सृष्टिमें बाप-बेटोंकी स्थिति पृथक् हो जाती है। नाद-सृष्टिमें जो गुरु-शिष्य होते हैं उनकी सृष्टि पृथक् हो जाती है। बिन्दु-परम्पराके द्वारा भगवान् सबको उपलब्ध

नहीं हो सकते, परन्तु नाद-परम्पराके द्वारा सबको उपलब्ध हो सकते हैं। भीतर भगवान् हैं, पर बैठे हैं। आओ, कानके द्वारा भगवान्को भीतर डालें। बाहरसे भी भगवान् आयें और भीतर तो पहलेसे हैं ही। बीचका पर्दा हट जायगा और भीतर बैठे हुए भगवान्से बाहरसे लाये भगवान् मिल जायेंगे। इसीसे वेणु-गीतके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि भगवान्के हृदयमें एक अमृतका समुद्र भरा हुआ है। उसको परमानन्द कहो, ब्रह्मानन्द कहो, या सच्चिदानन्द कहो :

आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्। (तैत्ति० उप० ३.६)

आनन्द ही ब्रह्म है। वह भगवान् श्रीकृष्णके शरीरमें ऐसा भरा, ऐसा भरा कि, नखसे लेकर शिखातक पूरा व्याप्त हो गया हृदयसे वह छलक-छलककर उनके अधरोंपर आ गया। और जब अधरोंमें आ गया और अँटे नहीं अँटा, तब उन्होंने वेणुको माध्यम बनाकर उस आनन्द-रसका वितरण किया। वितरण किया तो गोपियोंके कानोंके द्वारा वही नादामृत गोपियोंके हृदयमें पहुँचा और गोपियोंका शरीर भी आनन्दामृतसे भर गया, भरकर उनके शरीरसे बाहर भी छलका। तो, स्वयं स्वरूपभूत आनन्द जो होता है वह भोग्य नहीं होता। परन्तु वही आनन्द जब गोपियों द्वारा छलकता है तो भगवद्-भोग्य हो जाता है। ब्रह्म स्वयं अपनेको न दृश्य बना सकता है, न अपनेको आकृति दे सकता है और न अपनेको भोग्य बना सकता है। परन्तु वही जब वृत्तिरूपमें गोपियोंके द्वारा आता है, तो वह परमानन्द अपनेको आकृति भी दे लेता है, अपनेको विषय—ज्ञेय भी बना लेता है और अपनेको भोग्य भी बना लेता है। इसलिए भगवान् स्वयं अपनेको भोग्य बनाकर परमानन्दमें मग्न हो जाय इसकी प्रक्रिया, इसकी शैली, इसकी धारा अमृतकी धारा है, शैली है।

शैली शब्दका अर्थ धारा ही होता है। जो शैलसे, पर्वतसे निकली, उसको 'शैली' बोलते हैं, धारा बोलते हैं। वह अमृतधारा वेणुके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट करते हैं।

यह वेणु-ध्वनि भागवतामृत है, यह भगवत्स्वरूप है और संसारके आकर्षणको छुड़ा देनेवाली है। संसार होता है सलक्षण। यह स्त्रीका लक्षण है, यह पुरुषका लक्षण है—दोनोंके लक्षण अलग-अलग होते हैं। उसमें राग होता है, द्वेष होता है। शत्रु है, मित्र है—सलक्षण हो गया। माया होती है विलक्षण, अनिर्वचनीय। उसका एक लक्षण न होनेसे नश्वरता लगी हुई है। पर परमात्मा होता है अलक्षण। श्रुतिमें, माण्डूक्योपनिषद्में 'अलक्षण' शब्द है। उसको न तो मायाके समान विलक्षण कह सकते हैं, न संसारके समान सलक्षण कह सकते हैं। क्योंकि वह तो अपना आपा ही है। लक्षणका ज्ञान तो दूसरेकी प्राप्तिके लिए चाहिए। अपनी उपलब्धिके लिए लक्षणका ज्ञान अपेक्षित नहीं है।

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

अन्य वस्तुकी सिद्धि करनी हो तो उसमें लक्षणका ज्ञान और उसको जाननेके लिए प्रमाण दोनोंकी आवश्यकता होती है। परन्तु जहाँ अपना हो ज्ञान हो, वहाँ न लक्षणकी आवश्यकता होती है और न प्रमाणकी आवश्यकता होती है। वह तो स्वतः-सिद्ध होता है। तो, ये भगवान् अलक्षण ही हैं।

अब आप देखें, वेणु क्या है? पृथ्वीका ही आकृति-विशेष है। मिट्टीका ही रूप है। सत्ताका ही आकार-विशेष है।

अच्छा! देखो वेणु जड़ है परन्तु चेतन उसमें-से अपना स्वर फूँक रहा है। उसमें न राग है, न रागिनी है, न स्वर है—कुछ नहीं है। पोली है बाँसुरी। परन्तु उस पोली-सी बाँसुरीमें, जैसे

निर्वृत्तिक हृदयमें चेतनाका आविर्भाव होता है—उसमें परमानन्द भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव हो रहा है। इसको यहाँतक स्वीकार करते हैं कि यही वंशी चेतनके रूपसे श्रीकृष्ण और राधा दोनोंको अपने अंकमें रखती है हितके रूपमें, और यही उद्बोधन करती है। बेसुध कृष्णको, बेसुध राधाको जाग्रत् करती है।

तो, सत्ताको आकृति देना, जलको स्थल बना देना, स्थलको जल बना देना, वृक्षसे मधुधारा क्षरित करना, चलती-बहती हुई यमुनाको रोक देना, चरको अचर बनाना और अचरको चर बनाना इस विलक्षण सृष्टिको केवल नादके द्वारा, संगीतके द्वारा—यह वंशीका कार्य है। हितके रूपमें वंशी विशुद्ध अनुभव-स्वरूप है। सखीके रूपमें नित्य-निकुञ्जमें वह श्रीराधा-कृष्णकी सखी है, सेविका है। वही लीलास्थलमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखार-विन्दके अमृतको वितरण करनेवाली है। वही वंशी आचार्यके रूपमें प्रकट होकर लोगोंको भगवद्धर्ममें, भगवद्रसमें दीक्षित करती है, जिस वेणुको हम जड़ समझते हैं। देखो, यह उद्धारकी प्रक्रिया है। वेणु जड़ है, वेणु बाँस है, वेणु ग्रन्थिल है और वेणु है पोली। वेणु छिद्रवान् है, छिद्र हैं वेणुमें। वेणु दग्ध है, जली हुई है। जड़ वंशमें पैदा हुई है, सूखी है और वंशसे वियुक्त है—कटी हुई है। फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण इतना रस, अपना समग्र रस, अपनी समग्र माधुरी उस बाँसुरीमें भर देते हैं। इससे बढ़कर भगवत्ता और क्या हो सकती है कि जड़से राग-रागिनी निकले, स्वर निकले, उद्बोधन निकले और जो है, वह आकृतियोंमें परिवर्तन कर दे। जड़में सामर्थ्य डालनेवाली भगवान्‌की यह लीलावस्तु है वंशी। यह भगवान्‌का एक प्रकारसे वंशावतार ही है।

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥ १॥

गोपियाँ इसको पुल्लिगमें वेणु बोलती हैं। गोपियाँ कभी-कभी नाराज भी होती हैं वेणुपर। वह प्रसंग फिर आपको बादमें बतायेंगे। आओ, थोड़ा ग्रन्थके विषयमें प्रवेश करें।

शरद् ऋतुका वर्णन है, यानी परिस्थिति अनुकूल है। आपको थोड़ी जान-पहचान हो तो यह देख लें कि परिस्थिति इसके अनुकूल है या नहीं, महाकालकी कृपा है या नहीं। वैसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनुष्य परिस्थितिका निर्माण कर सकता है। कालमें चेतन न हो तो वह कोई परिणाम सामने नहीं ला सकता। मनुष्यमें चेतन पहलेसे ही विद्यमान है। कालके परिवर्तनकी भी सामर्थ्य चेतनमें है। परन्तु परिस्थितिकी अनुकूलता हो तो बहुत बढ़िया है। शरद् ऋतु भगवान्को बहुत प्रिय है। वात्सल्य-लीला, दामोदर-लीला, ऊखल-बन्धन शरद ऋतुमें ही सम्पन्न हुआ। गोवर्धन-धारणलीला, सख्यलीला, रास-लीला, शृंगारलीला शरद् ऋतुमें ही सम्पन्न हुई।

इसलिए शृङ्गार-रसकी लीला रासलीलाके साथ सम्बद्ध होनेके कारण वेणु-गीतका प्रसंग भी शरद् ऋतुमें ही है। कालकी अनुकूलता, काल-सम्पदा चाहिए मनुष्यको। बिना कालसम्पदाके सफलता कैसे मिलेगी? दूसरी बात है स्वच्छजल—जल निर्मल हो। यानी द्रव्य-सम्पदा जो है वह भी चाहिए, वस्तु चाहिए और वस्तु भी स्वच्छ चाहिए। क्योंकि भागवत-रसकी अनुभूतिके लिए द्रव्यशुद्धि होना आवश्यक है। तो, जल स्वच्छ है। संस्कृतमें इसे 'स्वच्छजलम्' भी बोल सकते हैं और 'स्वच्छजडम्' भी बोल सकते हैं। स्वच्छ जल है, यह देखो द्रव्य-सम्पदा है।

अब गन्ध-सम्पदाका वर्णन है। पद्माकरसुगन्धिना : जलाशयोंमें कमल खिले हुए हैं। देखो, भाव-पुष्प खिले हुए हैं। यह

हम लोगोंका आशय-हृदय जो जड़ हो गया है, इस जड़तासे कमलका खिलना, भाव-कुसुमका खिलना भी बन्द हो गया है। जैसे बरफ जम गयी हो और उसमें कोई पुष्प न खिलता हो सरोवरमें; ऐसा हो गया है हृदय ! 'पद्माकरसुगन्धिना'का यही अर्थ हुआ कि हृदयकमल खिल गया और सुगन्ध चारों ओर उड़ रही है। आपके हृदयमें जब कमल खिलेगा तब सुगन्ध भरेगी।

पद्माकरसुगन्धिना : पद्मा = लक्ष्मी वैकुण्ठ छोड़कर भगवान्‌के पास आ गयी। जो अन्तर्हित था वह प्रकट हो गया। जो दूर थे वे निकट आ गये। जो अव्यक्त थे वह व्यक्त हो गये। लक्ष्मीजी कहाँ रहेंगी? लक्ष्मीजी वहीं रहेंगी जहाँ उनके भगवान् रहेंगे। जब नारायण वैकुण्ठ छोड़कर व्रजमें, हमारे जीवनमें, हमारे संसारमें जगत्‌में आये। व्रज यानी जगत् और जगत् यानी व्रज। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब भगवान् निराकारसे साकार हुए और दूर देशसे हमारे देशमें आये और जो आँखोंसे ओझल थे, वे आँखोंके सामने प्रकट हुए, तो लक्ष्मीजीने वैकुण्ठ छोड़ दिया, वे भी धरतीपर आ गयीं। भगवान् यहाँ आकर लोगोंमें इस प्रकार मिल-जुल गये; यहाँकी गायें इतनी अच्छी लगती हैं, ग्वाल इतने अच्छे लगते हैं, यहाँके लता-वृक्ष इतने अच्छे लगते हैं कि लक्ष्मीको भगवान् भूल गये। लक्ष्मीजीने सोचा-याद दिलायें उनको। अब याद कैसे दिलाये? 'पद्माकर-सुगन्धिना'—लक्ष्मीजीने अपने हाथसे प्रत्येक कमलको छू-छूकर अपने अंगकी, अपने हाथोंकी सुगन्ध भर दी। भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ जायेंगे वहाँ-वहाँ यह गन्ध आयेगी, तो पहचान जायेंगे कि लक्ष्मी हमारी सेवा करनेके लिए यहाँ आयी हैं और अपने हाथोंसे इत्र

छिड़कती हुई यहाँ डोलती हैं। उनके मनमें हमारी सेवाका बड़ा भाव है।

'पद्माकर-सुगन्धिना' : अब वायु-सम्पत्ति बताते हैं। देखो, हमारा जल भी स्वच्छ होना चाहिए और हमारी नासिकाको सुगन्ध भी ठीक-ठीक मिलनी चाहिए। वह भी कृत्रिम नहीं सहज! 'पद्माकरसुगन्धिना' का अर्थ है सहज सुगन्ध, कृत्रिम नहीं। 'स्वच्छजल' का अर्थ है सोडावाटर या लाल-पानी नहीं, निर्मल जल।

और 'वायुना वातम्' हमारे प्राणके लिए स्वच्छ वायु भी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण कहाँ विहार करते हैं? जहाँ सहज सुगन्ध है, जहाँ स्वच्छ जल है, जहाँ समशीतोष्ण शरद् ऋतु है। शीतोष्ण ऋतुका अर्थ है :

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः (गीता १२.१८)।

जिसका हृदय शीत और उष्णमें सम है, सुख और दुःखमें सम है, वहाँ परमात्मा प्रकट होता है। अब 'वायुना वातम्' : वेदमें वायुपरक मन्त्रोंकी जैसे झड़ी लगी हुई है। सूक्तके सूक्त वायुका अर्थ प्रकट करते हैं। यहाँतक कहा है कि वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि (तै० उ० १.५) वायु देवता तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। देखो, यहाँ वृन्दावनमें वायु सेवा कर रहा है? वृन्दावनकी सेवा कौन कर रहा है? वायु। वायु कौन है? ब्रह्म। वात आवातु भेषजम् (ऋ० १०.१८६.१)। हवाई जहाजका धुँआ दूसरा होता है। मोटरका धुँआ दूसरा होता है। कूड़ा जलाते हैं तो उसका धुँआ दूसरा होता है। वेद भगवान् कहते हैं : 'वात आवातु भेषजम्'— वायु देवता हमारे लिए औषधी लेकर आये। यानी जो श्वास हम लें, उस श्वासमें इतनी शक्ति हो कि वह हमारे समग्र शरीरके

लिए औषधरूप हो जाय। भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे वनमें विचरण करते हैं जहाँ वायु-सम्पदा, गन्ध-सम्पदा, जल-सम्पदा, काल-सम्पदा और वन-सम्पदा है। हीरा, मोती, सोना, चाँदी, ईंट-पत्थरका नाम सम्पदा नहीं है।

अब इसके बाद आता है धन-सम्पदा! धन-सम्पदामें गायका नाम सबसे पहले और फिर परिकर-सम्पदा सगोगोपालकोऽच्युतः। गो-सम्पदा—यह गोधन सम्पदा है। अच्छा, आपके पास बहुत सारी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ हों, सुन्दर पुरुष हों, पर इन्द्रिय-सम्पदा आपके पास न हो तो वह सुन्दर पुरुष और सुन्दर स्त्री किस काममें आयेगी? सगोगोपालकोऽच्युतः इसीको बोलते हैं गो-सम्पदा, धन-सम्पदा। और आपके पास सब कुछ हो, परन्तु आपके साथ कोई न हो; आप एकाकी हों—अकेले, बिल्कुल असहाय तो? सगोगोपालकोऽच्युतः—महात्मा लोग अगर परमात्माके साथ न हों तो परमात्माको लोग पहचानें नहीं। ये गोपालक हैं, ये महात्मा हैं—कैसे जानें? अपनी गायरूपी इन्द्रियोंका पालन करके संयम करके ये महात्मा बने हुए हैं। इसलिए ये भगवान्‌के सहयोगी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने वृन्दावनका अभी नाम नहीं लिया। अब सोचो कि सब कुछ तो है, परन्तु जो नायक है वह अत्यन्त कामी और शिथिल विचारका, अदृढ़ है तो सारी सम्पदा किस काम आयेगी? इसलिए : सगोगोपालकोऽच्युतः। श्रीकृष्ण कौन हैं? अच्युत हैं। 'न च्यवते'—अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते, अपने स्वरूपके विपरीत कर्म नहीं करते, अपने स्वरूपके विपरीत वाणी नहीं बोलते, अपने स्वरूपके विपरीत भोग नहीं करते, अपने स्वरूपके विपरीत ज्ञान नहीं देते। जो कुछ करते हैं, वह अपने स्वरूपके अनुरूप करते हैं। अपने स्वरूपसे च्युत कभी नहीं होते : सगोगोपालकोऽच्युतः।

अब और धन-सम्पदाका वर्णन करते हैं :

कुसुमितवनराजिशुष्मभृङ्गद्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

'कुसुमित वनराजि' : तीन बातकी ओर ध्यान खींचते हैं और सब विशेषण हैं—सरिता, सरोवर और पर्वत। सरोवर है एक तो सरस। सरः वह रस ही है। छिपाकर बोलते हैं, सरका नाम ही रस है, रसका नाम ही सर है। आस्वाद्य होनेपर रस कहते हैं और निर्मल होनेपर उसको सरस् कहते हैं। सरस्में, सरमें निर्मलताकी प्रधानता है और रसमें स्वादकी प्रधानता है। पर दोनों द्रव-पदार्थ हैं, हैं दोनों ब्रह्म-रस। और आप देखो, सरिता यानी प्रवाह। इसको वृन्दावनकी भाषामें 'अभिसार' बोलते हैं। सरिता बहती रहती है, पहाड़को तोड़ देती है, पेड़को उखाड़ देती है, चट्टानोंको तोड़-तोड़कर बहा ले जाती है, सारे अवरोधोंको तोड़ देती है और जाकर समुद्रमें मिलती है। यह वैदिक दृष्टान्त है : यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति। (मुण्डकोप० ३.२.८)

समुद्रमें मिलनेके लिए नदियाँ बहती हैं। श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए गोपियाँ बहती हैं। वह वृत्ति-प्रवाह जो श्रीकृष्णकी ओर है, उसको बोलते हैं सरिता। परन्तु दृढ़ता न हो तो ? प्रेममें तीन वस्तुएँ चाहिए—सरोवर की निर्मलता, सरिताका प्रवाह और 'महीध्रम्'—पर्वतकी दृढ़ता। यदि प्रेम दृढ़ न हो, ढुलमुल हो,

छिनहिं चढ़े छिन उतरे, सो तो प्रेम न होय।

प्रेम दृढ़ होना चाहिए और उसकी गति सरिताके समान एकमुख समुद्रकी ओर होनी चाहिए। साथ ही सरोवरके समान निर्मल—वासनारहित होना चाहिए। अब दो बातें इसके साथ

और जोड़ दी है। यह वृन्दावनका स्वरूप है। यहाँ पर्वत है; गिरिराज और सरिता, यमुना और सरोवर तथा ब्रह्महृद, गोविन्दकुण्ड, राधाकुण्ड आदि हैं।

तो, सरःसम्पत्ति, सरित्-सम्पत्ति, पर्वत-सम्पत्ति ये भी सम्पदाएँ हैं, भगवत्-सम्पत्ति हैं; पर उनके साथ और जोड़ते हैं : कुसुमितवनराजिशुष्मभृङ्गद्विजकुलघुष्ट। द्विजकुल होनेसे वेदानुसार है। इसमें ज्ञान भरपूर है। द्विजकुल यानी पक्षी भी होता है और द्विजकुल यानी ब्राह्मण भी होता है। ब्राह्मण तो वेदोच्चारण करता है और पक्षी गुणगान करता है। वेदमन्त्रका भी गान होता है। पक्षी-कुल घुष्ट है यानी वेद-शास्त्रके विपरीत नहीं है और 'शुष्म-भृङ्ग' यानी मतवाले भ्रमर हैं। इससे जगत्की, प्रपञ्चकी विस्मृति और रसास्वादन, ये दो चीज निकलीं। फिर 'कुसुमितवनराजि' का अर्थ है भावके पुष्प खिले हुए हैं; यहाँ शुष्कता नहीं है। प्रपञ्चका विस्मरण होकर आनन्द आ रहा है और तत्त्वज्ञानका इसमें उल्लंघन नहीं है। ऐसी निर्मलता, वृत्ति-प्रवाह और दृढ़तासे युक्त है श्रीवृन्दावनधाम, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण विहार करते हैं। ऐसे वृन्दावनमें मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः—मधुपतिने अवगाहन किया। अब देखो, श्रीकृष्णको यहाँ 'मधुपति' कहनेका अभिप्राय यह है कि गायें चराना श्रीकृष्णका काम नहीं। ब्रह्म क्या कहीं गायें चराता है? लेकिन उसके बिना गायें चरती भी नहीं हैं।

> योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
> संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
>
> (भाग० ४.९.६)

ब्रह्मके बिना गायें चरती नहीं। कोई इन्द्रिय काम नहीं कर सकती, यदि चेतन भगवान् भीतर बैठा न हो। लेकिन वेदान्ती

कहते हैं वह चरानेके लिए उनके साथ नहीं जाता। जाता है तो आभास हो जाता है। शुद्ध ब्रह्म वृत्तिमें आभासित होकर वृत्ति-रूप प्रणालीके द्वारा विषय-देशमें जाता है। वहाँ अन्तःकरण अवच्छिन्न और विषयावच्छिन्न चेतनकी एकता हो जानेपर विषयकी अनुभूति होती है। यह तो ऐसा ब्रह्म है जो समाधिमें नहीं—गाः चारयन् का अर्थ है व्यवहारमें। जिस समय हम अपनी इन्द्रियोंसे व्यवहार करते रहते हैं, उस समय भी परमेश्वर हमें छोड़ता नहीं। गाय चरानेके लिए वनमें आता है। यही इस ब्रह्म-की विशेषता है। यह श्याम ब्रह्म है। यह तो चरानेके लिए गायोंके पीछे-पीछे जाता है।

अब मधुपतिकी ओर ध्यान दो। यह मधुवंशका स्वामी है, राजाधिराज। क्षत्रिय गाय चराने नहीं जाते। पर देखो, यह कितना भोला-भाला है, कितना करुण है, कितना सरल है, कितना गो-प्रेमी है कि मधुपति होकर भी गाय चराने जाता है। जब कोई बड़ा मिनिस्टर या नेता हाथमें झाड़ू लेकर सड़ककी सफाई करने लगता है तो कैसा बढ़िया फोटो खिचता है। जब परमेश्वर, मधुपति अपने पदके अनुरूप कार्य न करके उससे छोटा काम करने आता है तो उसमें कारुण्य भरा हुआ है, उसमें हित भरा हुआ है—यह भाव प्रकट हो जाता है।

मधुपतिका दूसरा भाव यह है कि वनमें प्रवेश करते हैं। वनमें वसन्त आये तो वनकी शोभा बढ़े। मधुपति शब्दका अर्थ वसन्त है। भगवान् श्रीकृष्ण जब वनमें प्रविष्ट हुए तो सारे वनमें मानो वसन्त आ गया, मधुऋतु छा गयी। मधुऋतु मधुपति होकर आ गया।

एक तीसरी बात है। पीनेवाले पीनेके लिए मयखानेमें जाते

हैं। पर जहाँ पिलानेवाला मधु लेकर पिलानेके लिए स्वयं आये ! किसको ? महलोंमें नहीं, नगरोंमें नहीं वनवासियोंको पिलानेके लिए, ग्वाल-बालोंको पिलानेके लिए, वहाँके लता-वृक्षोंको पिलानेके लिए, वहाँकी सारी पृथ्वीको मधुमयी बना देनेके लिए यदि स्वयं मधुपति अपना मधु लेकर आता है इससे बड़ी बात और क्या होगा ?

मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः।

अब उपनिषद्की चर्चा करें। वेदोंमें मधुका बहुत वर्णन है। उपनिषदोंमें तो 'मधुविद्या' नामक एक मधु-ब्राह्मण ही है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद्में अन्तर्यामी ब्राह्मण (३.७) है, वैसे ही मधु-ब्राह्मण (२.५) है। उसमें यह बात बतायी है कि यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियोंका मधु है और सम्पूर्ण प्राणी पृथ्वीके मधु हैं। पृथ्वीका स्वाद तब है जब प्राणी हैं और प्राणियोंको स्वाद तब है जब पृथ्वी है। प्राणी पृथ्वीसे अन्नादिरूप स्वाद लेते हैं और प्राणीसे सेचनादिरूप स्वाद लेती है पृथ्वी। इस तरह इसमें पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि चौदह पदार्थोंका नाम लेकर वर्णन किया है कि सब पदार्थ मधु हैं और जो सबमें हैं, सबका है वह मधु कौन है ? वह मधु ब्रह्म है। इसे उपनिषदोंमें 'मधुविद्या' बोलते हैं। वेदोंमें मन्त्र आते हैं :

ॐ मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः. माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव रजः, मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः, माध्वीर्गावो भवन्तु नः।
(शुक्लयजु:० माध्य० सं० १३.२७–२९)।

हमारी धूलिके कण भी मधुमय हों, हमारे बिन्दु-बिन्दु जल भी मधुमय हों, हमारी वायुका एक-एक झोंका भी मधुमय हो, हमारी नदियोंमें मधु बहे : मधुः क्षरन्ति सिन्धवः हमारी गायें

मधुमयी हों। तो, यह जो मधु है, वह मधु यानी ब्रह्म है, परमेश्वर पूर्णानन्द है। वही रस है : रसो वै सः (तैत्ति० २.७)। ब्रह्म मधु है, परन्तु श्रीकृष्णके विना यदि उस ब्रह्मका वितरण करने-वाला, पिलानेवाला कोई न हो तो वह ब्रह्म किस कामका? अतएव मधुका पान करानेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण मधुपति बनकर वृन्दावनमें प्रवेश करते हैं।

प्रवेश भी कैसे करते हैं? 'अवगाह्य' अवगाहन करते, डूब जाते हैं :

मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः।

अवगाहनका अर्थ है, गहरी डुबकी लगाना।

संस्कृतमें 'वन' शब्दका अर्थ जल भी होता है। वनराजि : वृक्ष, तरु, लता आदि। वैसे वृन्दावनमें वृक्षको 'तरु' कहना ज्यादा पसन्द करते हैं; क्योंकि एक-एक वृक्ष तीर्थ है, इसलिए उनको 'तरु' कहते हैं। तरु यानी जिनके द्वारा सतरण हो जाय, तर जायँ। वृन्दावनके वृक्ष वृक्ष नहीं, तरु हैं। तरु इसलिए कि यदि उनका आश्रय ले लिया जाय तो आप तर जायँ—संसारकी विषमतासे तर जायँ। लता तो साक्षात् गोपी है। जिसमें रति हो उसको 'रता' बोलते हैं और रताको 'लता' बोलते हैं। संस्कृत भाषा तो कल्पवृक्ष ही है।

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः
सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।
(महाभाष्य ६.१.८४)

संस्कृत-भाषामें केवल एक शब्दको यानी किसी भी शब्दको

यदि भलीभाँति पहचान लें और ठीक स्थानपर प्रयोग करें तो वह केवल स्वर्गमें नहीं, मर्त्यलोकमें भी कल्पतरु हो जाता है।

फिर, 'वन' यानो भजन : 'वन संभक्तौ'। संभजनका स्थान, एक नयी बात! नैतादृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते। महाभारतमें वन शब्दका प्रयोग संभजनके अर्थमें है। जहाँ भजन निर्विघ्न हो सके उसका नाम वन है। संवनन, संभजन, आराधन। वृन्दावन—अच्छा वन=वृक्षोंका समूह जहाँ हो, भिन्न-भिन्न वृक्ष जो बिना उगाये उगे हों। 'उद्यान' उसको बोलते हैं जहाँ वृक्ष लगाये जाते हैं। पर ईश्वरसे, प्रकृतिसे, निसर्गसे जहाँ वृक्ष पैदा होते हैं उसका नाम 'वन' है। श्रीकृष्णने उसमें जैसे कोई जलमें अवगाहन करे, वैसे प्रवेश किया।

फिर सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्। पंक्तिकी पंक्ति ग्वालोंकी, दस-वीस, पचास-सौ, सब ग्वाल एक-एक वेणु अपने हाथमें लेकर बजा रहे हैं : सह-पशुपाल-बलश्चुकूज वेणुम्। 'चुकूज'का अर्थ है 'कूजयामास'—उन्होंने वेणु बजायी। एक साथ हजारों वेणु एक ही स्वरमें एक ही तालमें बज उठीं। बलरामजीने भी वेणु अपने हाथमें ले रखी थी ग्वाल-बालोंने भी वेणु अपने हाथमें ले रखी थी और श्रीकृष्णके स्वरमें स्वर, रागमें राग, तालमें ताल मिलाकर उन्हींकी बाँसुरीके साथ सबने बाँसुरी बजायी : सह पशुपालबलश्चुकूज वेणुम्। चारयन् गाः—गौओंको चरा रहे हैं और बाँसुरी बजा रहे हैं। इन्द्रियोंके साथ संसारका व्यवहार चल रहा है, रसकी वर्षा हो रही है।

वेणु शब्दका अर्थ ही श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने ऐसा किया है। जहाँ ब्रह्मानन्द होता है, वहाँ व्यवहारमें विषयानन्द नहीं रहता। ब्रह्मानन्दमें शान्ति है तो विषयानन्दमें विक्षेप, विषयमें हर्ष है और शान्तिमें आनन्द। यह वेणु क्या है ?

वश्च इश्च वयौ=ब्रह्मानन्दविषयानन्दौ, तौ अणू यस्मात् असौ वेणुः।

जिसके सामने शान्तिका ब्रह्मानन्द और विक्षेपका विषयानन्द दोनों फीके पड़ जायँ, उनकी कोई कीमत ही न रहे। क्योंकि यहाँ देखो, वेणु-वादन होनेसे विक्षेप भी मौजूद है और प्रपञ्च-विस्मृति होनेसे ब्रह्मानन्द भी मौजूद है। प्रपञ्च-विस्मृति होनेसे ब्रह्मानन्द विद्यमान है और क्रियाशील होनेसे विक्षेप भी विद्यमान है। तो, यहाँ प्रपञ्च-विस्मृति रूप शान्ति है और वेणु-ध्वनि रूप विक्षेप है यहाँ ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दोनोंका तिरस्कार करके यह विलक्षण ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट होकर बाँसुरी बजा रहा है।

संस्कृत-भाषामें 'वेणु'का अर्थ होता है, बांस। वनमें स्वाभाविक वायुसे जो बजते हैं, उन बाँसोंकी संज्ञा 'कीचक' है। जब प्राकृत वंशध्वनिमें इतना आकर्षण है कि वनस्थ प्राणी उससे मुग्ध हो जाते हैं तब हम तो उस ध्वनिकी चर्चा करते हैं जिसको बजाने-वाला स्वयं भगवान् है, परमेश्वर है। प्राकृत वायुकी प्रेरणासे नहीं, ईश्वरीय प्राण-शक्तिसे, और वह भी केवल प्राणोंसे नहीं, अधरामृतसे ! यह ऐसा नादामृत वृन्दावनमें प्रवाहित हो रहा है।

व्रजका अर्थ केवल पृथ्वीका, भूगोलका एक भाग नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत् है : गच्छति इति जगत्, व्रजतीति व्रजः। दोनों गत्यर्थक धातुएँ हैं।

जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्—(भाग. १०.३५.१२)। भगवान् श्रीकृष्णके हृदयमें आनन्द जब उमड़ता है तो वे वंशी-ध्वनिद्वारा सम्पूर्ण विश्वका आलिङ्गन करते हैं। बोले : 'भाई, जब साकार ही होकर आये तो आलिङ्गन हाथोंसे नहीं, वंशी-ध्वनि-से करें'।

वेदान्तियोंका ईश्वर ऐसा है जो किसीपर दया-माया नहीं

करता; पर भक्तोंका ईश्वर स्वभावसे दयालु है। वह दोनोंपर दया करता है। भक्तोंके ईश्वरका एक अलग भाव है, उसका स्वभाव अलग है। पर यह जो वृन्दावनका भगवान् है, वह मुख्य रूपसे दयालु नहीं है। अपनी दयाको तो उसने अपने निराकार रूपमें छिपा रखा है। वह मुख्यरूपसे प्रेमी है। प्रेमकी प्रधानतासे भगवत्ता है।

मुझे यह कहनेमें कोई संकोच भी नहीं है कि जैन और बौद्ध ईश्वरको नहीं मानते, परन्तु भगवान्‌को वे भी मानते हैं। जैन और बौद्ध ब्रह्मको नहीं मानते, एक अखण्ड सत्ताको स्वीकार नहीं करते और सर्वव्यापी ईश्वरको भी स्वीकार नहीं करते। तथापि भगवान्‌को जैन और बौद्ध भी स्वीकार करते हैं। भगवत्ता बुद्धमें है, भगवत्ता महावीरमें है। एक और विलक्षण बात है! शरणागतिको सब स्वीकार करते हैं। बुद्धं शरणं गच्छामि का क्या अर्थ है? शरणागति है या नहीं। जैन लोग बोलते हैं: आत्तशरणो भव—अपनी शरणमें आओ। शरणागति तो वहाँ भी है। आत्माकी शरणागति जैनोंमें है और बुद्धं धम्मं संघं—बुद्धधर्म एवं संघकी शरणागति बौद्धोंमें है। इस्लाम-धर्ममें ईश्वरकी शरणागति है तो हमारे यहाँ वृन्दावनबिहारी श्रीकृष्णकी शरणागति है।

अब आप एक शब्दपर ध्यान दीजिये। द्वारिकाके श्रीकृष्ण 'मुरारि' हैं तो वृन्दावनके श्रीकृष्ण 'मुरली-मनोहर'। अब 'मुर' शब्दका अर्थ देखें! जो हृदयमें ऐंठन पैदा कर दे, उसको 'मुर' बोलते हैं। कामका नाश करते हैं द्वारिकानाथ, सत्यभामा-माधव। माधव श्रीवल्लभ हैं और सत्यभामा भूनन्दिनी, भूलक्ष्मी हैं। यह जो भगवान्‌ने मुरली ली, इस 'मुरली' शब्दका अर्थ क्या है? यहाँ कामका नाश नहीं, कामका आश्लेष है। यह 'ली' धातु जो है,

वह आश्लेषणके अर्थमें है। यह हमारे हृदयमें उठनेवाले कामको श्रीकृष्णके साथ आश्लिष्ट कर देती है। हमारा काम ही श्रीकृष्णमें जाकर विलीन हो जाता है। मुरली, हमारे हृदय में जितनी तरह-तरहकी ललित वृत्तियाँ हैं, उन सबको ले जाकर श्रीकृष्णके साथ जोड़ देती है।

जब यह प्रश्न उठता है कि हम अपनी वृत्तियोंको किसके साथ जोड़ें? हमारा प्रेम कैसे उमड़े, हमारा प्रेम कैसे तरंगायित हो? तो योगी लोग नादकी उपासना करते हैं। जहाँ वाद्य-नादका आश्रय लेकर मनको अन्तर्मुख किया जायगा वहाँ 'वितर्कानुगत समाधि' होगी और जहाँ अन्तर्नादका आश्रय लेकर मनको अन्तर्मुख किया जायगा वहाँ 'विचारानुगत समाधि' होगी; क्योंकि वहाँ सूक्ष्म आलम्बन है। जहाँ नादका आलम्बन छोड़ दिया जायगा और हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ बिना विषयके ही प्रसन्न हो जायँगी वह 'आनन्दानुगत समाधि' होगी। जहाँ कर्मोंका ध्यान छूटकर केवल स्वसत्ताका ही स्फुरण होगा वहाँ 'अस्मितानुगत समाधि' होगी और जहाँ स्वसत्ताका भी स्फुरण न होकर चिन्मात्रका ही स्फुरण होगा; वह विवेकख्यातिपूर्वक 'असम्प्रज्ञात समाधि' हो जायगी।

योगकी रीतिसे विस्तारका संक्षेप होता है तो भक्तिकी रीतिसे संक्षेपका विस्तार। दोनोंकी गति अलग-अलग है। लीलासे रूपमें, रूपसे मुखारविन्दमें, मुखारविन्दसे नेत्रमें, नेत्रमें फिर रूपका आलम्बन छोड़कर निराकारमें स्थित हो जायँ—यह योगकी रीति है। इसके विपरीत निराकारको साकार बनाया, साकारसे मुखारविन्दमें आये। फिर मुस्कानको देख लिया, चितवनको देख लिया, शरीरकी चेष्टा देख ली, नृत्य देख लिया, लीला देख ली, ग्वालवाल, गोपी देख ली—इस तरह संक्षिप्तको विस्तीर्ण, उदीर्ण कर

देना भक्तिरसकी प्रक्रिया है, जबकि विस्तीर्णको, उदीर्णको संक्षिप्त कर देना योगकी प्रक्रिया है।

यह जो—चुकूज वेणुम्—भगवान् श्रीकृष्णने बाँसुरी बजायी, वह प्रसङ्ग प्रेमका है। हमारे हृदयमें प्रेम कैसे उठे? शान्त-ज्ञानका नाम है ब्राह्मी स्थिति, निर्विषयक ज्ञान-समाधि और उल्लसित-ज्ञानका नाम है प्रेम—थिरकता हुआ ज्ञान, नाचता हुआ ज्ञान, तरङ्गायित होता हुआ ज्ञान! हमारा हृदय क्षीरसागर है। वह उल्लसित होता है तो कब होता है? सागरको तरङ्गायित करनेवाला चन्द्रमा जब आकाशमें रहता है। इधर हमारे हृदयके क्षीरसागरको तरङ्गायित करनेवाला है कृष्ण-चन्द्र। प्रेमका उद्दीपक प्रेम होता है। जब मालूम पड़ता है कि सामनेवाला व्यक्ति हमसे बहुत प्रेम करता है तो उसके प्रति हमारे हृदयमें प्रेमका उदय होता है। नहीं तो एकांगी ही प्रेम ही रह जाता है और एकांगी प्रेमको व्रजमें 'सम्पूर्ण प्रेम' नहीं माना जाता। वहाँ तो दोनों ओरसे प्रेम होना चाहिए; समरस प्रेम हो। समरस प्रेमके पक्षपाती वृन्दावनी लोग हैं एकांगी प्रेमके पक्षपाती अन्यत्रके हमारे साकार प्रेमी हैं और केवल दयाके पात्र निराकार ईश्वरके माननेवाले हैं। सगुण निराकार ईश्वरको माननेवाले दयाके पात्र हैं; और नहीं तो अपने पौरुषके द्वारा, सत्कर्मके द्वारा ईश्वरको प्रसन्न करेंगे। पर जहाँ ईश्वर स्वयं प्रेम कर, बाँसुरी बजाकर, नाचकर, गाकर, छूकर खाकर, खिलाकर, अपनी ओरसे प्रेमदान करकर जीवोंको आकर्षित करे, उसी प्रीतिकी प्रधानता वृन्दावनमें है।

वृन्दावनमें केवल जीव ही भगवत्प्रेमी हों, ऐसा नहीं। स्वयं भगवान् ही जीवोंके प्रेमी हैं, यह बात प्रकट हुई है। वल्लभाचार्यजी इसमें ईश्वर-अनुग्रहकी प्रधानता मानते हैं। श्री चैतन्य महा-

प्रभु अनुग्रह नहीं, प्रेमकी प्रधानता मानते हैं। यह दोनों पन्थोंके मतों अन्तर है।

हमसे कोई पूछे कि आपको कौन-सा पसन्द है तो हम झट कहेंगे :

यस्यामतं तस्य मतम् (केनोप० २.३)

हम तो अमतवादी हैं, मतवादी नहीं। इसलिए दोनों मत हमें पसन्द हैं। ईश्वरकी प्रधानतासे अनुग्रह और प्रेमीकी प्रधानतासे प्रेम; हमें तो दोनों इष्ट हैं, दोनों ही प्यारे हैं। हमें तो जितने वल्लभाचार्यजी प्यारे हैं, उतने ही चैतन्य महाप्रभु प्यारे हैं। हमारे दोनों आचार्य हैं। हम दोनोंको नमस्कार करते हैं। फिर पूछो, 'शङ्कराचार्य', वह तो वे हमारी आत्मा ही हैं। शङ्कराचार्य तो हम ही हैं। शङ्कराचार्य और हममें कोई भेद नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभुको हम हाथ जोड़ते हैं, अनादरका भाव किसीके प्रति नहीं है।

तो आओ : चुकूज वेणुम्। भगवान्‌ने बाँसुरी बजायी। यह मुरली है। मुर यानी हमारे हृदयमें जो काम है उसको भगवान्‌के साथ जोड़नेवाली है। यह वंशी-ध्वनि गोपियोंके कामको भगवान्‌के साथ जोडने वाली है। आप डरें नहीं काम-शब्दसे। काम भी नायकके भेदसे लौकिक और दिव्य दो प्रकारका हो जाता है। जहाँ नायक-नायिका लौकिक होते हैं, वहाँ वह लौकिक होता है, प्राकृत होता है। जहाँ नायक-नायिका दिव्य होते हैं, वहाँ उनकी दिव्यतासे काम भी दिव्य हो जाता है। देखो, श्रीकृष्ण स्वयं अर्थके रूपमें आये हैं धर्मकी रक्षाके लिए। कामको अपने साथ जोड़ लेते और तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष देते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका रूप क्या है? रुक्मिणीने कहा है :

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ।
(भाग० १०.५२.३७)

'श्रीकृष्ण ! निर्लज्ज होकर मेरा मन तुम्हारे अन्दर प्रवेश कर रहा है; क्योंकि तुम मिल गये तो अर्थ मिल गया । अर्थ तो बाहर होता है । वह अधिक प्रिय नहीं है । कोई कष्ट न आये तभीतक अर्थ प्रिय होता है । और काम ? जबतक मनकी अनुकूलता रहे, इन्द्रियोंकी शक्ति बनी रहे, तभीतक वह प्यारा लगता है । जबतक बुद्धि शुद्ध रहती है तभीतक धर्म प्यारा लगता है । मोक्ष तो आत्माका स्वरूप ही है । भक्ति-सिद्धान्तके अनुसार भगवान् कृष्ण इन चारों पुरुषार्थोंके दाता हैं । वे ही अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष देते हैं ।

अब गोपियोंको भगवान् बाँसुरी सुना रहे हैं । सुना तो सबने, सर्वभूतहित होकर आया है वंशीस्वन । सबके मनको, प्राणको भगवान्‌ने हर लिया, भगवान्‌की वंशीने हर लिया । पेड़ भी मधु क्षरण करने लगे । **अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्** (भाग० १०.२१.१९)— वृक्षोंको रोमांच हो आया । चलनेवाले चल प्राणी निश्चल हो गये— प्रकृतिका विपर्यास हो गया । असलमें यह जो प्रकृति बाह्यरूप हो गयी है, विकारोन्मुख हो गयी है वह संस्कार द्वारा आत्मरूप हो जाय, परमात्मरूप हो जाय; यही तो करना है । यह वंशी, यह नाद विकारसे निकालकर संस्कार दे रहा है ।

इसे तो सुना सबने । परन्तु व्रजकी स्त्रियोंने जो सुना :

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
कश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

'आश्रुत्य = आ–ईषत् श्रुत्वा इति आश्रुत्य ।' जरा-सा सुना, पूरा

सुननेके लिए तो कानमें मन जाना चाहिए। यह श्रीकृष्णसम्बन्धी पदार्थोंका स्वभाव है कि यदि कानसे सुनें तो सारी इन्द्रियाँ अपना-अपना गोलक छोड़कर कानमें चली जाती हैं और आँखोंसे देखें तो सारी इन्द्रियाँ अपना-अपना गोलक छोड़कर आँखोंमें आ जाती हैं। इन्द्रियाँ आँख, नाक, कान ये हमारी सभी शरीरव्यापी हैं। यह आँखका जैसा गोला है, आँखमें जिस पर्देके होनेसे हम देख पाते हैं; वैसा पर्दा वैज्ञानिक उन्नति द्वारा निर्मित हो सकता है। उसको हम ललाटमें भी लगा सकते हैं और हाथमें भी लगा सकते हैं सांख्य-योग-दर्शनकी दृष्टिसे चक्षु-इन्द्रिय नामक जो शरीर-व्यापी व्यापक तत्त्व है, उसका गोलक कहीं भी बना दिया जाय तो अपना काम करना शुरू कर देगा। तो, प्रेमियोंकी व्यापक इन्द्रियाँ हैं, आँखसे देखो तो आँखमें चली जायँगी। आँखें ये खुली ही रह जायँगी, यदि कानसे सुनें तो बस कान ही कान रहेंगे :

कृष्ण नाम जब ते श्रवन सुन्यौ री आली।
भूलि री भवन हौं तो बावरी भई री।
हौं तो भई अब श्रवनमयी री॥

बोलती है : 'बस, मैं तो कान हूँ, मैं तो कान बन गयी कान! जब छुआ तो त्वचा बन गयी। जब सूँघा तो नाक बन गयी। जब चख लिया तो जिह्वा बन गयी। और जब मनमें प्यार आया तो मनोमयी बन गयी!'

मोहि मोहि मोहनमयो री मन मेरो भयो
हरिचन्द भेद न परत पहचान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय
हिय में न जानि परे कान्ह हैं कि प्रान हैं॥

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य : इसको वल्लभाचार्यजी प्रपंचकी विस्मृति शब्दोंमें बोलते हैं। यानी प्रपंचका विस्मरण हो गया और भगवान्में रति उत्पन्न हो गयी। लीलाके ये ही दो काम हैं। परमेश्वरके सिवा दूसरेका विस्मरण करा देना—यह नाटक नहीं, जिससे शिक्षा ग्रहण की जाय। शिक्षा ग्रहण करनेके लिए जो होता है, वह नाटक होता है और लीला होती है प्रपंच-विस्मारक भगवदासक्ति उत्पन्न करनेके लिए। लीलामें कर्तृत्व नहीं होता। लीलामें फलाकांक्षा नहीं होती। लीलामें अयुक्तता नहीं होती। आप देखो, कहते हैं कि 'मौन रहते हैं, ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।' पर मौन तामस होता है या नहीं ? ब्रह्मचर्य तामस होता है या नहीं ? अरे, मनःप्रसाद और भावसंशुद्धि भी तामस होती है : मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।····इत्यादि (गीता १८.१६—१९)।

भाव-संशुद्धिको सात्त्विक तब कहेंगे जब उसमें दुराचार न हो, फलाकांक्षा न हो और पूरी श्रद्धा हो। ये तीनों बातें जब मनः-प्रसाद और भावसंशुद्धिके साथ मिलेंगी तो वह सात्त्विक होगी, नहीं तो राजस-तामस। दुराचार होगा तो तामस हो जायगी और अश्रद्धा होगी तो निष्फल। इसलिए भावसंशुद्धिके लिए भी यह आवश्यक है।

सुना भगवान्की बाँसुरीको सबने, परन्तु—

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।

शुकदेवजी 'कृष्ण-गीतम्' नहीं, 'वेणुगीतम्' बोलते हैं। गानेवाले तो श्रीकृष्ण हैं, बाँसुरी थोड़े ही है। पर कृष्णके मुखसे जो लग गयी, उसको तुम जड़ मानते हो ? नहीं, वह तो चेतन है। गोपियाँ श्रीकृष्णका नाम क्यों लें ? बोलीं : 'हम तो बाँसुरी बजानेवालेको

नहीं जानतीं, पर बाँसुरी इतनी प्यारी लगती है कि उसीको सुनने उसके पास जाती हैं। बाँसुरीवालेको देखने थोड़े हो जाती हैं।' यह भी छिपानेका एक भाव है। इसे 'अवहित्था' कहते हैं, प्रेममें संगोपन जो है।

अरे यह तो बाँसुरीने ही जादू किया है। इसका फल क्या हुआ ? दूसरोंने सुना तो वे बेसुध हो गये और गोपियोंने सुना तो उनके हृदयमें स्मरका उदय हो गया! 'स्मर' यानी काम। उसमें डरने लायक कोई बात नहीं है। अपनी पत्नीको एक साड़ीकी आवश्यकता पड़े और वह अपने पतिसे कहे कि 'हमारे लिए एक साड़ी लाओ' तो वह कोई दूषित काम नहीं है। यदि वह पर-पुरुषसे कहती है कि मेरे लिए साड़ी ला दो तब काम दूषित होता है। इसीसे व्रजमें श्रीकृष्णको सब अपना समझते हैं और अपने समूचे मनको उनके सामने रख देते हैं। किसी ओरसे काम न हो, काम हो तो श्रीकृष्णसे हो।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥
(भ० सि० १.२.२०६ उद्धरण)

किसीने कहा : 'गोपी तुम तो प्रेमिका हो।' गोपीने कहा : 'नहीं सखि ! मैं भला प्रेम क्या जानूँ ? मैं तो व्रजेश नन्दके जो नन्दन हैं; उनसे स्नेह करती हूँ। व्रजेश नन्दबाबाको बोलते हैं और व्रजेश-नन्दन श्रीकृष्णको। श्रीकृष्णको व्रजराज नहीं व्रजराजकुमार।

'सखि, हम प्रेम क्या जानें', यह है भक्तका भाव। प्रेमीपनका भान भी प्रेमको सीमित कर देता है। अभिमानके आश्रित रहनेवाला प्रेम बहुत संकीर्ण हो जाता है। 'हम बड़े प्रेमी हैं' यदि यह अभिमान आ गया तो समझ जाओ, प्रेम उड़ गया। प्रेमरस ऐसी

वस्तु नहीं, जो अभिमान-सरीखी कठोर वस्तुपर टिक सके। व्रजबालाओंका जो प्रेम है, उसीको वे अपनी भाषामें काम बोलती हैं और उद्धवादि जो महात्मा हैं, वे उसको शुद्धप्रेम बोलते हैं।

किसीके माहात्म्यका श्रवण होता है, उसके सद्‌गुणोंका बोध होता है, तो उसके सौन्दर्य-माधुर्यकी ओर आकर्षण होता है। आकर्षण होनेपर यदि वह सत्य हो तो उससे मिलनेकी आशा होती है। मिथ्या होगा तो मिलनेकी आशा नहीं होगी। जब आशा होगी कि वह मिल सकता है, तब प्राप्त करनेकी इच्छा होगी। जिससे मिलनेकी आशा ही नहीं होगी, तुम सोच लो कि तुमको इस जीवनमें ईश्वरका दर्शन ही नहीं हो सकता तो ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा धीरे-धीरे मर जायगी। यदि तुम यह सोचो कि मिलेंगे—राम, मिलेंगे राम, हमें इसी जीवनमें परमेश्वरकी प्राप्ति होगी; ऐसा निश्चय कर लो तो इस आशाके आते ही आपके मनमें उनसे मिलनेके लिए लालसा होगी, उनसे मिलनेके लिए व्याकुलता होगी, उनसे मिलनेके लिए तीव्र कामनाका उदय होगा और ऐसी कामना आयेगी जो संसारकी कामनाको मिटा देगी।

यह वेणु-गीत कैसा है? **स्मरोदयम्**। यह आपके हृदयको संसारी कामनासे युक्त नहीं रहने देगा और निष्काम भी नहीं रहने देगा। निष्काम हो जाने दो योगियोंको और ज्ञानियोंको। आप तो जानते ही हैं कि आजकल ब्लैक-मार्केट करते हैं निष्काम भावसे। निष्काम भावसे बेइमानीकी कमायी आती है। पर भगवान्, ईश्वर! ऐसी निष्कामतासे तो बचाये रखे। पल्टनकी पल्टन पैदा होती जा रही है निष्काम भावसे! यह निष्कामता नहीं, निष्कामता-का उपहास है। ऐसी निष्कामताकी अपेक्षा तो संसारमें किसीसे कामना न रहे और भगवत्-कामना आकर अपने हृदयमें स्थान बना ले, यह आवश्यक है। वह भगवत्-कामना कहाँसे आये? उसके

लिए है : वेणुगीतं स्मरोदयम् । भगवान्का यह जो वेणुगीत है वह स्मरोदय है। हमारे हृदयमें भगवान्के प्रति काम उदय करता है।

अब एक प्रश्न उठता है। जब श्यामसुन्दर वांसुरी बजाते हैं और कोई भाग्यवान् या भाग्यवती उसको सुनते हैं तब उनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कामका उदय होता है और उनका काम ईश्वरोन्मुख हो जाता है। पर आजकल तो श्रीकृष्णकी वंशी सुननेको नहीं मिलती। हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति वैसा शुद्ध काम कहाँसे आये ?

वेणुगीतं स्मरोदयम् का यह भी अर्थ है कि आप वेणुगीतका अनुसन्धान करें। इसका श्रवण कीजिये, इसका वर्णन कीजिये। इसका स्मरण कीजिये, इसके अर्थका अनुसन्धान कीजिये। यह वेणुगीत आज भी आपके हृदयमें भगवत्प्राप्तिकी लालसा जाग्रत् कर देगा।

काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ।

सभी गोपियाँ वंशी-ध्वनि सुनकर बोलने ही लगती हैं, सो बात नहीं है। कोई-कोई ऐसी हैं जो श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनकर बेसुध हो जाती हैं, मौन हो जाती हैं, निर्निमेष हो जाती हैं। पलक गिरना बन्द हो जाता है, शरीरका हिलना बन्द हो जाता है, साँसका पता तक नहीं चलता। निश्चेष्ट हो जाती हैं, वंशीध्वनिमें तन्मय हो जाती हैं। परन्तु काश्चित्। काश्चित्-का अर्थ है जो मुग्धा नहीं, जो सिद्धा हैं, जो नित्यसिद्ध हैं।

गदाधरभट्ट भगवत्कथा सुना रहे थे। लोगोंके मनमें यह शंका हुई कि इनकी कथा सुनकर और लोग तो रो रहे हैं और इन महात्माकी आँखमें तो आँसू ही नहीं हैं। उसी समय एक वृक्षका

पत्ता टूटकर उनके शरीरपर गिरा और जलकर राख हो गया। उनके हृदयमें इतनी आग थी! उसको इस तरह उन्होंने पचा रखा था कि जाहिर नहीं होने देते थे। सबमें इतनी शक्ति नहीं होती कि अपने प्रेमको पचा सकें, पर वे तो सिद्धपुरुष थे। अपने प्रेमके जो अनुभाव और सात्त्विकभाव हैं, उनको पचाकर और लोगोंके सामने भगवत्कथाका वर्णन करते जा रहे थे।

सारांश जो मुग्धा हैं, साधनसिद्ध हैं और रामावतारसे कृष्णावतारमें आयी हैं वे गोपियाँ वंशी-ध्वनि सुनकर बेसुध हो जाती हैं। परन्तु जो ऋषि-मुनि हैं, वे सुननेके लिए जागती रहती हैं—वे श्रवणप्रेमी हैं। जो गोपियाँ श्रुतियाँ हैं, वे बोलनेके लिए जागती रहती हैं और जो नित्यसिद्ध गोलकसे आयी हैं वे भी बोलनेके लिए जागती रहती हैं। 'काश्चित्' का अर्थ है—जो श्रुतिरूपा गोपियाँ हैं, जो ऋषिरूपा गोपियाँ हैं, जो नित्यसिद्धा गोपियाँ हैं, वे परस्पर वेणुगीतकी चर्चा करती हैं। श्रीकृष्णके सामने नहीं परोक्षं कृष्णस्य। यदि श्रीकृष्ण सम्मुख हों तो बोले कौन? वहाँ तो

दोउ परैं पैंया, दोउ लेत हैं बलैयां,
इन्हें भूल गईं गैयां, उन्हें गागर उठाइबो।

वहाँ बातचीत कौन करे? परन्तु जो नित्यसिद्ध है, श्रुतिरूपा हैं वे बातें कर रही हैं। उनका बोलना चालू है। जो नित्यसिद्धा हैं वे वक्ता बन गयी हैं, बोल रही हैं और जो ऋषिरूपा हैं वे श्रोता बन गयी हैं, श्रवण कर रही हैं श्रीकृष्णका वर्णन।

श्रीकृष्ण यानी निष्क्रिय ईश्वर नहीं, सक्रिय ईश्वर। 'कर्षति, कृषति' खेती करता है हमारे हृदयमें, आकर्षण करता है हमारे हृदयमें। चुम्बक भी है चुम्बनधर्मा, अपनी ओरसे ही चूम लेता है। कृष्ण क्लीब नहीं, पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है। वे कोई क्लीब थोड़े

ही हैं ! संस्कृत भाषामें ब्रह्मको क्लीब बोलते हैं। 'क्लीब अधाष्टर्ये' धातु है। जो धृष्टता न कर सके, उसका नाम है क्लीब। श्रीकृष्ण तो ऐसे धृष्ट हैं कि न चाहनेवालेको भी छीनकर ले जायँ। चाहनेवाले की तो चर्चा ही क्या है ? भगवान् रामचन्द्रका स्वभाव है कि आओ, सामनेसे साष्टांग दण्डवत् करो, विनयपूर्वक हाथ जोड़ो तब देखते हैं। बड़े ही कोमल स्वभावके हैं, बड़े दयालु हैं—यह सब ठीक है। परन्तु जयन्त आकर सामने कौएके वेषमें गिर गया और वे देखते ही रहे। जब श्रीजानकीजीने उठाकर उनके सम्मुख किया तब उसको संकटसे मुक्त किया। द्वारिकानाथ कृष्ण भी चार मुठ्ठी चावल लेकर दृष्टिपात करते हैं। वहाँ चावल छीना; यहाँ तो माखन ही छीन लेते हैं, कपड़ा ही छीन लेते हैं, दूध छीन लेते हैं,। ये तो कृष्ण हैं, कृष्ण !

तो, यहाँ श्रीकृष्ण उपस्थित नहीं हैं। उपस्थितिमें वर्णनका प्रसंग नहीं है : **परोक्षं कृष्णस्य**। परोक्षरूपसे वर्णन करती हैं। यदि कृष्ण कहीं उन्हीं सखियोंमें वेश बदल आ बैठे हों तो उनको कितना आनन्द आयेगा कि गोपियाँ हमसे कितना प्रेम करती हैं ! फिर, **स्वसखीभ्यः**—वे सबसे वर्णन नहीं करतीं, अपनी सखियोंसे वर्णन करती है। जो यूथ्य हैं, अपने यूथकी जो गोपियाँ हैं, अपने हृदयको जिनसे छिपाया नहीं जा सकता उनसे वर्णन करती हैं। **अन्ववर्णयन्**—इसका अर्थ है 'वर्णितम् अनु अवर्णयन्', जैसी वंशी-ध्वनि सुनती हैं, वैसा वर्णन करती हैं। पर वर्णन करनेपर होता क्या है ?

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाऽशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

उन्होंने वर्णन आरम्भ तो किया, परंतु श्रीकृष्ण-चेष्टितका

स्मरण हो आया। चेष्टा होती है शरीरनिष्ठ; जैसे आँखका हिला देना चेष्टा है। संकेतसे किसीको बुला लेना चेष्टा है।

लीलामें सखाकी भी जरूरत पड़ती है, पर चरित्र जो होता है वह लोकादर्श होता है। चरित्रमें लोकके लिए आदर्श होना चाहिए तो लीलामें आनन्द होना चाहिए। अपने ही शरीरमें ठुड्डी हिलाना, आँख हिलाना, मुस्कराना, कमर हिलाना, पाँव हिलाना—ये सब चेष्टाएँ हैं। कृष्णकी वशी-ध्वनिका वर्णन करते-करते स्मरन्त्य. कृष्णचेष्टितम् गोपियोंको तो दीखने लगा कि बाँसुरी बजाते समय उनकी आँख कैसे चलती हैं. उनकी भौंहे कैसी उठती हैं, उनका सिर कैसे हिलता है, उनकी ठुड्डी कैसे चलती है ! देखो, सुनोगे बाँसुरी और मनमें उदय होगी श्रीकृष्णकी चेष्टा।

स्मरन्त्यः यहाँ स्मर नहीं, स्मरण है—भगवत्स्मरण है, जो सम्पूर्ण विपत्तिको मिटाता है। भक्तोंको कोई विपत्ति नहीं। धनहरण, स्वजनमरण, भवन-दहन और वन-गमन भी भक्तोंके लिए विपत्ति नहीं है। उनके लिए भगवान्का विस्मरण ही सबसे बड़ी विपत्ति है। जब भगवान्का स्मरण होने लगता है तो उनकी विस्मरण-रूप विपत्ति नष्ट हो जाती है। आप एक मिनट श्रीकृष्णका स्मरण कीजिये—आँख बन्द करके कीजिये या खुली आँखोंसे कीजिये। जितनी देर आपके सामने वह अनुग्रहभरी भौंहोंवाली, प्रेमभरी दृष्टिवाली, मन्द-मन्द मुस्कानवाली, पीताम्बरधारी साँवरी-सलौनी मूर्ति स्फुरित होगी उतनी देर क्या आपको किसी दुःखका अनुभव होगा ? आप एक मिनट आँख बन्द रखिये, यदि एक मिनटके लिए श्रीकृष्ण-स्मृति आपके दुःखको दूर कर सकती है तो आपको आजीवन एक महौषधि प्राप्ति हो गयी। आप घण्टेभर स्मरण कीजिये, घण्टेभरका दुःख दूर हो जायगा। दिन भर स्मरण

कीजिये, दिनभरका दुःख मिट जायगा। स्मरणका 'मद' स्मरण करनेपर भी बना रहेगा।

स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्। स्मरन्तीका एक अर्थ होता है वह स्मरमयी हो गयी। स्मरन्ती माने स्मरभावापन्न, बिल्कुल काममयी हो गयी। स्वयं श्रीकृष्णमयी हो गयीं गोपियाँ। और **नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप**—वर्णन नहीं हो सका। क्यों नहीं हो सका? योगमें चित्तकी शान्ति होती है। वेदान्तियोंको शान्ति अभीष्ट नहीं, उनको अज्ञान-निवर्तक ब्रह्माकारवृत्ति अभीष्ट है। वेदान्ती वृत्तिवादी होता है, शान्तिवादी नहीं। कुछ लोगोंने जो वेदान्तका अनुवाद किया है, वह शुद्ध नहीं है। वेदान्ती यानी निर्भय, वेदान्ती यानी निर्द्वन्द्व। चाहे शान्ति रहे, चाहे विक्षेप, दोनोंमें सम। युद्धभूमि और एकान्तगुहा, दोनोंमें जिसको समत्व आ जाय, उसका नाम वेदान्ती है। **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** (बृहदा० ४.२.४)—वेदान्तसे अभयप्राप्ति होती है। वेदान्ती तो वृत्तिवादी हैं ही, भक्त भी वृत्तिवादो हैं। भक्त विशिष्ट वृत्तिवादी हैं तो वेदान्ती निर्विशेष वृत्तिवादी। इसलिए भक्त और वेदान्तीमें वृत्तिकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं। निर्विशेष वृत्ति अज्ञानके निवारणमें समर्थ है तो विशिष्ट वृत्ति प्रपञ्चके विस्मारणमें समर्थ है। फलतः विस्मृति हो गयी :

नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप।

लोग कहते हैं कि भगवान् मिलेंगे तो बड़ी शान्ति मिलेगी। अरे, यह ऐसा भगवान् मिला जो भगवान् स्वयं शान्त नहीं, जो नाचे-कूदे, गाये-बजाये, हँसे-खेले :

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। (ईशोप० ५)

जब ऐसा चक्कर लगानेवाला भगवान् मिला तो वह मनको शान्ति देनेवाला कैसे होगा ? तो, गोपियोंको मिला विक्षेप। प्रेमके रास्तेमें चलो और रोनेसे डरो व्याकुल होनेसे डरो—यह तो होगा ही नहीं। गोपियोंका मन विक्षिप्त हुआ। परन्तु विक्षेप कैसा हुआ ? प्रेमके विक्षेप और संसारके विक्षेपमें बहुत अन्तर है। गोपियोंका मन शरीरसे निकला और वहाँ पहुँच गया जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण वन्दावनमें प्रवेश करते हैं।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

यह है, गोपियोंका विक्षेप। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि वर्णन कर नहीं सकीं, मन विक्षिप्त हो गया। इसके बाद बर्हापीडका क्या अर्थ होता है, यहाँ पूर्वप्रसङ्गसे 'बर्हापीडं' की क्या सङ्गति है ? वे कहते हैं : यह गोपियोंके मानसका वर्णन है। यह उनके विक्षेपका ही वर्णन है कि गोपियोंका मन विक्षिप्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके साथ-साथ चल रहा है।

प्राविशद् गीतकीर्तिः। वनमें प्रवेश कर रहा है। अब वह प्रवेश कैसा है ? बर्हापीडं नटवरवपुः। पहले सिरको ही लिया उन्होंने। नहीं तो चरणारविन्दसे वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जो दासानुदास होते हैं, वे पहले भगवान्की ओर नहीं देखते, दासकी ही ओर देखते हैं। शत्रुघ्नजी रामचन्द्रजीकी ओर नहीं, भरतजीकी ओर देखते हैं, वे दासानुदास हैं। हनुमान्जी भगवान्के चरणारविन्दकी ओर देखते हैं, दास हैं। लेकिन गोपीकी नजर जो उठी तो कहाँ जाकर लगी ? बर्हापीडम्। सिरसे भी ऊपर चली गयी। इतने

जोरसे आँख उठायी गोपीने कि उसकी आँख तो एक साथ मुकुटकी ओर चली गयी।

यहाँ बर्ह शब्द 'ब्रह्म' का ही वाचक है। छिपाकर 'ब्रह्म' का एक नाम 'बर्ह' रखा हुआ है। भागवतमें जहाँ भगवान्‌का सांगोपांग निरूपण है, वहाँ ब्रह्मलोक ही भगवान्‌का मुकुट है, ऐसा वर्णन आता है। 'बर्ह' 'बृह्' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है मोरका पुच्छभाग। वैसे तो मोर बर्हको समेटकर रखते हैं, पर जब नाचना होता है तो वह 'बर्ह' फैल जाता है, वृद्धिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के सिरपर ऐसी चीज है कि जरा-सा इनका नाम है, जरा-सा इनका रूप दीखता है। लेकिन जैसे कोई 'छगुनी पकड़कर पहुँचा पकड़ ले' वैसे ही ये भगवान् नन्हे-से होकर तो हृदयमें आते हैं और फिर बढ़ जाते हैं। पाँव इनका ब्रह्मा ही पकड़े।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा (तै० २.५) तैत्तिरीय-उपनिषद्‌का कहना ही है कि ब्रह्म तो पूँछ है। वहाँ पूँछ बताया और यहाँ पिच्छ बता दिया। तीतरकी तो पूँछ होती है, पर यह तो मोरकी होनेसे पूँछ नहीं, पिच्छ है, 'बर्ह' है।

अच्छा, मोरपङ्ख है सिरपर—एक पक्षीका गिरा हुआ अङ्ग। किसी महात्मासे जाकर पूछो कि इसको छूकर क्या करना चाहिए? तो हाथ धुलाये बिना नहीं मानेगा। कहेगा : 'सो भी साबुनसे नहीं, माटीसे धोकर आओ, मोरकी पाँख जो है।' मृगचर्म भी हो तो भजन करनेके लिए हम उसको शुद्ध मानते हैं, परन्तु उसपर भोजन करना या उसपर सोना या उसपर बैठना शास्त्रोक्त नहीं है। शास्त्रोक्त विधि तो केवल भजन करनेके लिए है, भोजन करनेके लिए नहीं। मृगचर्म विधिशुद्ध है, वस्तुशुद्ध नहीं। हमने बचपनसे धर्म-शास्त्र घोटा है, धर्मशास्त्रियोंके बीच रहे हैं। हमारे बाप-दादा धर्म-शास्त्री थे, व्यवस्था देते रहे। तो, अब

तुम देखो यह मोरकी पाँख सिरपर लगाना कौन-सा धर्म है? यह तो इसने पहलेसे ही झंडा फहरा दिया कि तुम लोग ज्यादा स्मृतिशास्त्रके चक्करमें मत पड़ो, श्रौत-कर्मके चक्करमें मत पड़ो, योग-मीमांसाके चक्करमें मत पड़ो। यहाँ तो एक चिड़ियाकी पाँख सिरपर बैठी हुई है जिसे छूना नहीं चाहिए। ऐसी चीज सिरपर बैठी हुई है कि यह हम लोगोंकी ज्यादा जाँच पड़ताल नहीं करेगा कि यह ब्राह्मण है या नहीं, यह धर्मात्मा है या नहीं, सदाचारी है या नहीं; कारण खुद ही मोरकी पाँख लगाकर आया है।

व्रजका एक पक्षी; पक्षी भी राधारानीका प्यारा। फिर वह श्रीकृष्णके वंशी-वादनको देखकर नृत्य करता है। श्रीकृष्ण-यामलमें यह प्रसंग है। वहाँ पिच्छ गिर जाता है और उसको पुरस्कार समझकर भगवान् श्रीकृष्ण सिरपर धारण करते हैं। वह वृन्दावनके मयूरका पिच्छ है।

बर्हापीडं नटवरवपुः। नट भी बनकर आते हैं और वर भी। ब्रह्मदृष्टिसे नट हैं और गोपियोंकी दृष्टिसे हैं वर। आज भगवान् दूल्हेका वेष धारण कर आता है। यह गायत्रीका 'वरेण्यम्' है। वरेण्यं जो में वर है वही 'नटवरवपुः' होकर आज आ रहा है। आओ, आओ, आज दूसरा रिश्ता इससे नहीं रखना है। बस, यही सम्बन्ध इसके साथ बनाना है!

व्यवहारमें, जीवनमें दिनभर काम करते-करते लोग विश्रामको भी आवश्यक मानते हैं। विश्राम न मिले तो अच्छे-से-अच्छे काम भी रूखे बन जाते और उन्हें सम्पादन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। मन सदैव कुछ-न-कुछ चिन्तन करता ही रहता है। ऐसा चिन्तन करता है कि कहीं राग हो जाय तो कहीं द्वेष।

कहीं सतानेका ही तनाव बन जाय, तो कहीं फँसानेका तनाव। इन विविध तनावोंको उत्पन्न करनेवाले क्रिया-कलापों, भावोंमें मन सदैव संलग्न रहता है। इसलिए आओ, एकबार इसे तनावके इस वातावरणसे थोड़ो देरके लिए अलग कर भगवान्‌के रसमय, मधुमय, लास्यमय लोकमें ले चलें।

क्या आप थोड़ी देरके लिए भी अपने मनको संसारसे अलग नहीं कर सकते ? आप विश्रामके लिए कश्मीर, स्विटजरलैंड तो जा सकते हैं और वहाँ महीनों बिता सकते हैं; लेकिन इतनी सामर्थ्य नहीं कि चौबीस घण्टोंमेंसे थोड़ी देरके लिए भी मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगा सकें और यहाँके राग-द्वेषपूर्ण असन्तुलित वातावरणसे अपने आपको मुक्त कर सकें! तब तो आप पराधीन हो गये। इसलिए आयें, थोड़ी देरके लिए संसार-को संसारमें रहने दें। दूकान-दूकानपर रहे, मकान-मकानपर, परिवार-परिवारमें तथा शरीर धरतीपर रहे और अपने मनको मुक्त वातावरणमें ले चलें। मनको विश्राम देनेकी यह एक युक्ति है। विश्राम तभी होगा जब रस मिलेगा। विश्राममें शान्ति है और शान्तिमें शक्तिका उदय होता है। आपका पौरुष भी तभी जाग्रत् होगा जब आपके मनको शान्ति मिलेगी। सध्या आते-आते जब शरीर थक जाता है और थोड़ी देर रात्रिमें विश्राम कर लेते हैं, तो प्रातः फिर ताज़गी आ जाती है। तो, आओ भगवान्‌की एक रसमयी लीलामें प्रवेश करें।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।

बर्हापीडम्। देखो, बर्हं=मयूरपिच्छ का, आपीड=एक मुकुट भगवान् श्रीकृष्ण पहने हैं जो कभी फैलता है तो कभी सिमटता

है। भगवान्‌के सिरपर मुकुट जड़ हाकर नहीं, चेतन होकर हो निवास करता है। जिस वस्तुका सम्बन्ध परमेश्वरसे होता है, उसमें संकीर्ण चेतनाका लोप होकर पूर्ण-चेतनाका बोध रहता है। वह जीव-चेतनासे नहीं, ईश्वर-चेतनासे काम करता है। व्यष्टि-चेतना नहीं, समष्टि-चेतनासे काम करता है। यही भगवत्-सम्बन्ध-का 'लास' है।

जो मोर-मुकुट उनके सिरपर है, उसमें आंखें ही आँखें हैं। मानो भगवान् कहते हैं कि मेरे प्रेमी व्रजवासियो! मैं तुम्हें दो आँखोंसे ही नहीं, लाख-लाख आँखोंसे देखना चाहता हूँ। अपने प्रेमीको देखनेके लिए भगवान्‌के पास दो नहीं, लाख-लाख आँखें हैं।

फिर जानते हैं, मोर-पंखोंसे हवा की जाती है। भगवान् कहते हैं: 'आओ प्रेमियो! हम हाथमें पंखा लेकर नहीं, सिरपर पंख लगाकर तुम्हें हवा करते हैं। तुम्हें मृदु, मधुमय, मधुर, सुखमय, शीतल-मन्द-सुगन्धका संस्पर्श देते हैं—वायु देते हैं।'

वे कहते हैं: 'आओ हम तुम्हें अपने मोर-मुकुटका छत्र लगाते हैं।' आपने सुना होगा—श्रीकृष्ण कहीं जा रहे थे। चल रहे थे मन्द-मन्थर गतिसे, बड़े प्रेममें। प्रेमकी चालमें नृत्य होता है और प्रेमकी बोलीमें संगीत। प्रेमसे हृदयमें द्रवता आती है। प्रेम रसका उल्लास है, रसकी तरंग है। तो, चलते-चलते भगवान्‌ने देखा कि राधारानीके चरणोंके चिह्न धरतीपर अंकित हैं और उन पर धूप पड़ रही है। तो, वे झुककर खड़े हो गये कि उनपर धूप न लगे। वास्तवमें राधारानी नहीं और न उनके चरण ही हैं, केवल हैं चिह्न!

ओहो! प्रेमी ऐसा होना चाहिए जो अपने प्रियतमके चरण-

चिह्नोंपर भी धूप, गरम हवा न लगने दे। इस तरह वे इस मोर-मुकुटसे अपने प्रेमियोंपर छाया करते हैं!

आप देखेंगे, वृन्दावनमें दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदायमें भगवान्‌का मुकुट दाहिने लगता है और बाँयी ओर श्रीराधारानी-का दर्शन होता है। दूसरे सम्प्रदायमें बाँयी ओर मुकुट लटकता है कि हम अपने मोर-मुकुटसे श्रीराधारानीपर छाया कर दें, उन्हें छिपा लें अपने मुकुटमें।

प्रेमका स्वभाव ही है ऐसा करना, जिससे अपने प्रियतमको सुख पहुँचे। अपने प्रियतमके सुखमें सुखी होनेमें तो स्वसुख आ ही जाता है। वृन्दावनी लोग तो कहते हैं कि 'हम अपने प्रियतम-के सुखको ही सुख मानते हैं। तत्सुखसुखित्वम् यह उनका पारि-भाषिक शब्द है।

वे मानते हैं कि जितना-जितना प्रियतमका सुख बढ़ता है, उतना ही हमारा भी सुख बढ़ता है और जितना प्रियतम हमें सुखी देखते हैं, उतना ही उनका सुख बढ़ता है। इस तरह जब दोनों सुखोंमें एक होड़ लगती है तो प्रियतमके ही सुखकी वृद्धि होती जाती है, उसमें स्वसुखकी दुर्वासनाके लिए स्थान नहीं है। इस तरह तो जब भगवान् मयूर-पिच्छका मुकुट धारण करते हैं तो प्रियाजी सोचती हैं कि हमारे पाले मयूरकी पाँखका ये इतना आदर करते हैं तो हमारा कितना करेंगे?

वैसे श्रीमद्भागवतमें यहाँ 'आपीड' शब्द का प्रयोग मुकुटके लिए है, किन्तु 'पीड़ा पहुँचानेवाला' अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा जाता है। जैसे : कुवलयापीड। कुवलय = भूमण्डलको और आपीड = पीड़ा पहुँचानेवाला। 'कुवलयापीड' नामक हाथी जब चलता तो धरतीको पीड़ा पहुँचाता चलता था। जैसे : चलत

दसानन डोलत धरनी, वैसे ही कुवलयापीड हाथीके चलनेसे धरतीको पीड़ा पहुँचती थी।

इस प्रकाशमें 'बर्हापीडम्'का अर्थ देखें तो 'वर्ह' यानी वृद्धि—सबसे बड़ी विशालता, है उसको पीड़ित करते हुए ये भगवान् कृष्ण चलते हैं। कोई बहुत बड़ी फैली चीज हो तो इसीसे वह बड़ी नहीं हो जाती। राज्य बड़ा होता है, राजधानी बड़ी होती है, लेकिन उसके पास सम्पदा न हो, शक्ति न हो, उसमें विद्वान्, बुद्धिमान्, नीतिमान् लोग निवास न करते हों तो उन छोटे-छोटे भलेमानुसोंके बिना उसकी क्या शोभा होगी? इसी तरह 'ब्रह्म' बहुत विशाल है; देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। किन्तु जब वह श्रीकृष्णके रूपमें सिमिट कर पैदा होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्मकी बिखरी सुन्दरता साढ़े तीन हाथकी मूर्तिमें सिमटकर महत्त्वपूर्ण बन जाती है। कोई चीज फैलनेसे महत्त्वपूर्ण होती है और कोई चीज सिमटनेसे। तो, विस्तीर्ण तत्त्वका नाम है 'ब्रह्म' और आकृतिमान्‌के रूपमें प्रकट ब्रह्मका नाम है 'श्रीकृष्ण'। स्पष्ट है कि ब्रह्मानन्दमें किसीकी रुचि ही नहीं होती, पर श्रीकृष्ण-में अत्यधिक रुचि देखी जाती है। इसीलिए कहा: बर्हापीडं बिभ्रद्।

नटवरवपुः। बहुत कठिन है कि चंचल मनको अचंचल पर-मात्माके साथ जोड़ देना। यह अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता। भगवान्‌ने सोचा, चंचल मन हमारे साथ मैत्री नहीं कर पाता तो चलो, हम ही स्वयं चंचल बनकर उसके साथ मैत्री करें। अनुग्रहका यह भी एक प्रकार है। मैंने बड़े लोगोंकी यह कुशलता देखी कि उनके पास कोई राजनीतिज्ञ आ जाय तो राजनीतिकी बात करने लगते हैं। कोई वेदान्ती आ जाय तो वेदान्तकी बात करते हैं, अपनी बातें नहीं करते—उससे उसकी रुचिकी ही बात

करते हैं। फिर वह सोचता है कि ओह! हमारे विषयमें तो इसको बड़ी दिलचस्पी है। इस तरह वे अपने पास आने-जानेवालोंको पकड़ लेते हैं। इसी तरह श्रीकृष्णने भी सोचा—'अच्छा, तुम हमारे घर नहीं आ सकते तो हम तुम्हारे घर आते हैं। तुम हमारी तरह नहीं बन सकते तो हम तुम्हारी तरह हो जाते हैं। इसीलिए कहा : **नटवरवपुः**। चंचल मनसे मिलनेके लिए, मनके सजातीय बनकर भगवान् प्रकट हुए।

इसमें एक रूप है 'नट' और दूसरा रूप है 'वर'। शंकरजीको 'नटराज' बोलते हैं और श्रीकृष्णको 'नटवर'। शंकरजी सर्प धारणकर नृत्य करते हैं तो श्रीकृष्ण सर्पके सिरपर नाचते हैं।

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र - पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरु-र्ननर्त ॥
(भाग० १०.१६.२६)

संसारकी जितनी कलाएँ हैं—स्थापत्य-कला, गान्धर्व-कला आयुर्वेद-कला, धनुर्वेद-कला, ज्ञानकला, प्रेमकला, सबके आदिगुरु भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसीलिए उन्होंने अपनेको 'कलानिधि' चन्द्रके वंशमें प्रकट किया।

नटवरवपुः बिभ्रद्। उन्होंने श्रेष्ठ नटका श्रीविग्रह धारण किया है और 'वर' नहीं, 'वरवपु' धारण किया है।

'नटवर' का अर्थ बहुत विलक्षण है। एक पुरानी कथा सुनाता हूँ। हिमाचलने अपनी कन्याका विवाह विष्णु भगवान्से निश्चित कर दिया। सगाईकी तिथि निश्चित हो गयी।

इससे पार्वतीजीको बड़ा दुःख हुआ। कारण, उन्होंने तप किया था कि विवाह करूँगी तो शिवसे, विष्णुसे नहीं। शामके

समय दो सखियोंको लेकर वे कैलाशकी एक गुफ़ामें जाकर छिप गयीं। रातका समय था, बड़ा डर लगने लगा। भाद्रशुक्ल तृतीयाका दिन था। उन्होंने आग जला ली और आगमें लकड़ी डाल-डाल कर, प्रकाशकर कैलाशकी गुहामें रात विता ली।

हिमालयने सब जगह ढुंढ़वाया, कहीं पता नहीं चला। बड़ी कठिनाईसे मालूम हुआ कि वह तो कैलाशकी गुहामें है। उन्होंने उसे जाकर मनाया। लेकिन पार्वतीजीने कहा : 'मैं तो शिवसे ही ब्याह करूँगी।' हिमालयने कहा : 'अच्छी बात है, हम विष्णुके साथ विवाह नहीं करेंगे। किन्तु शिव आकर स्वयं माँगें कि तुम अपनी कन्याका विवाह मुझसे करो, तब करेंगे।'

पार्वतीजीने शिवजीके पास यह समाचार भिजवाया। शिवजीने कहा : 'अच्छा हम माँगेंगे।' उन्होंने नटका वेष बनाया और हाथमें डमरू लेकर हिमालय महाराजके दरबारमें आये और बोले : 'हम अपनी कला दिखायेंगे।' तय हो गया और शिवजीने ऐसी कला दिखायी, ऐसा नृत्य किया, ऐसा वाद्य बजाया कि हिमावान् मुग्ध हो गये और बोले : 'नट! तेरी जो इच्छा हो, माँग ले।' नटने कहा : 'मैं माँगूँ सो दोगे?' हिमवान् उन्हें पहचान नहीं पाये। बोले : 'हाँ।' शिवने कहा : 'अच्छा तो हम तुम्हारी बेटी माँगते हैं!'

अब तो हिमवान् बड़े नाराज हो गये। बोले : 'निकालो इसे।' तबतक शङ्करजी हँसकर 'बोल उठे : 'मैं तो शिव हूँ, कोई मदारी थोड़े ही हूँ। माँगनेके लिए आया था, माँग लिया!' और वहाँसे चले गये। फिर उनका पार्वतीजीके साथ विवाह हुआ।

तो, शिवजी नट क्यों बने? पार्वतीको पानेके लिए। और श्रीकृष्ण नटवर क्यों बने? अपने प्रेमी भक्तोंको पानेके लिए।

वे ईश्वरसे नट बन गये और अपने प्रेमियोंके प्रेमपर अपनी ईश्वरता न्यौछावर कर दी कि 'चली जा री ईश्वरता ! मुझसे अलग हो। मैं तो नट बनकर रहूँगा नाच-गाकर बजा-बजाकर रिझाऊँगा। वन-वनमें गाये चराऊँगा। छेड़-छाड़ करनेवाला, माखन-चोर लीलाविहारी और रसिया बनूँगा और अपने प्रेमियोंको रिझाऊँगा।' इसीके लिए है भगवान् श्रीकृष्णका नटवर रूप !

वे केवल नट ही नहीं, वर भी हैं। 'वर' शब्दका अर्थ दोनों ओरसे होता है। जो वरण करे सो भी वर।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
(मुण्ड ३.४.३, कठोप० २.२३)

श्रुतिका कहना है कि वह स्वयं वरण करता है। जिसे वह पसन्द करता है कि यह चेतन जीवात्मा मेरे पास आये और मुझसे प्रेम करे, वही ईश्वरको पाता है। चेतन शब्दका प्रयोग मैंने श्रीरामानुज-सम्प्रदायके अनुसार किया है। भगवान् पहले देखते हैं कि यह जीव तो हमारे अनुकूल है। इसके हृदयमें हमारी भक्तिका उदय हो, यह हमें प्राप्त करे। यह संकल्प पहले भगवान्के हृदयमें उदित होता है तब उसके संकल्पानुसार जीव ईश्वरके मार्गमें चलता है—ऐसा श्रीरामानुज-सम्प्रदायका विचार है।

'वरवपुः' का दूसरा अर्थ है कि हम व्रजमें आये हैं तुम लोगोंको वरण करनेके लिए। ब्रह्म वर बनकर इसलिए आया है कि वह जीवोंका वरण करे और जीव उसका वरण करते हैं। ये जीव भी वर है। वर कन्याका वरण करता है या कन्या वरका ? श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें मानते हैं कि ईश्वर जीवका वरण करता है। शङ्कर-सम्प्रदायमें मानते हैं कि जीव ईश्वरका वरण करता

है। एक लोकाचार्यका भी सम्प्रदाय है। उनका कहना है कि गुरु ईश्वरके लिए जीवका वरण करता है। ये तीन सम्प्रदाय चलते है।

१. जीव पसन्द करता है ईश्वरको।

२. ईश्वर पसन्द करता है जीवको।

३. गुरु बीचमें पड़कर जीवको ईश्वरके साथ जोड़ देता है।

नटवरवपुः। 'वपु:'का अर्थ है, अमृत-वर्षीः 'वम् अमृतं पुष्णाति इति वपु:।' आज विशेष वेषभूषा धारण कर, नटवर बनकर नाचते हुए आये हैं। यह नाचता हुआ परमेश्वर है। क्षमा करें, वेदान्तियोंका ईश्वर नाचना नहीं जानता। ईसाई, मुसलमान और आर्यसमाजियोंके ईश्वरको भी नाचना नहीं आता। यह तो हमारे साकार ईश्वरकी ही करामात है कि वह अमृतको वर्षा कर लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है।

'वपु' शब्दका दूसरा भी अर्थ है: पृथ्वीका 'लं', जलका 'वं', अग्निका 'रं', वायुका 'यं' और आकाशका 'हं'—ये बीज अक्षर होते हैं। तो, 'वम् अमृतं पुष्णाति इति वपु:।' अर्थात् यदि भगवान्का श्रीविग्रह प्रकट न होता तो अबतक अमृत सूख गया होता। अमृतको जीवित रखनेकी शक्ति यदि कहीं है तो वह भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रहमें है। वे शरीर धारणकर अमृत वितरण करनेके लिए आये हैं। ऐसा ईश्वर किस कामका, जो कभी जीवोंको दर्शन न दे, जो कभी जीवोंसे मिलना पसन्द न करे, इतने ऊँचे बैठे कि लोग उसे कभी देख ही न सकें। यदि ईश्वरका साधारणीकरण न हो, वह रस बनकर हमारे जीवनमें अवतीर्ण न हो, तो वह व्यावहारिक नहीं रहेगा। वह सचमुच माण्डूक्योपनिषद्का 'अव्यवहार्यं ब्रह्म' हो रह जायगा। अव्यवहार्यं

हा रह जाता ब्रह्म, यदि व्यवहारमें श्रीकृष्ण बनकर अवतीर्ण न होता। ज्ञानी तो बहुत होते हैं। गीतामें अर्जुनके लिए या भागवत-में उद्धवके लिए जिस ज्ञानका उपदेश है उसे वेद-शास्त्र, उपनिषद्-के मर्मज्ञ सर्वथा उपनिषदारूढ कर देते हैं कि यह उपनिषद्का ज्ञान है।

कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्। कानोंमें कर्णिकार धारण किया है। साधारणतया पंडित लोग 'कर्णिकार' शब्दका अर्थ 'कनेरका फूल' करते हैं। लेकिन हमने तो शास्त्रीय रीतिसे भगवान्की आराधना-उपासना की है। उसमें कनेरके लिए तो 'करवीर' शब्द-का प्रयोग आता है और 'अमलतास'के लिए 'कर्णिकार' शब्दका। कालिदासने भी इस शब्दका प्रयोग किया है :

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
(कुमारसम्भव ३.२८)

स्त्रियाँ पहले 'ऐरन' नामका एक आभूषण धारण करती थीं। उसकी कई मंज़िलें होती थीं और वह कानसे लटकता था। अमलतासके पुष्प भी कई मंज़िलोंमें फूलते हैं। आयुर्वेदमें जहाँ-जहाँ कर्णिकारके गूदेका प्रयोग मिलता है वहाँ अमलतासके लम्बे-फूलका ही ग्रहण होता है। फल भी उसका लम्बा होता है और फूल भी। उसे कानमें धारण करते हैं। इसका भाव यह है कि हम तुम्हारे वचनको अपने कर्णका आभूषण बनायेंगे। एक कान-से नहीं, अनेक कानोंसे तुम्हारी बातें सुनेंगे। तुम हमें अपना ऐसा प्रियतम मत समझो जो तुम्हारी बातको अनसुनी कर दे।

कर्णयोः कर्णिकारम्। दोनों कानोंमें अलग-अलग कर्णिकार हैं, यह भी इसका अर्थ है। ऐसे मतवाले, मौजी हैं कि एक ही पुष्प-को कभी दाँयें कानमें लगा लेते हैं तो कभी बाँयें कानमें लगा लेते

हैं, यह भी अर्थ संभव है। कर्णिकार पीतपुष्प है। पीले फूलका अर्थ है, प्रेमकी बात सुनते हैं और अनेक कानोंसे सुनते हैं।

बिभ्रद् वासः कनककपिशम्। स्वर्णके समान अनुराग-रंजित पीत-वसन है। यानी वस्त्रमें केवल पीतिमा ही पीतिमा नहीं, किंचित् रक्तिमा, लालिमा भी मिली है। तो पीला और लाल–प्रेम और अनुराग दोनोंको मिलाकर जो रंग बनता है, वही पीताम्बरका 'कनक-कपिश' रंग है। सोना केवल पीला नहीं होता और न केवल लाल ही। शुद्ध स्वर्णमें, कुन्दनमें किंचित् रक्तिमा भी मिश्रित होती है। तो, भगवान् पीताम्बरमें लिपटे हैं।

जब पृथ्वीने भगवान्‌को निमन्त्रित किया है तो पृथ्वीके घर आते-समय उसीके रंगका वस्त्र पहनना ठीक है। बुद्धिमान् साधु जब अपने शिष्योंके घर जाते हैं तो उनका दिया वस्त्र पहनकर जाते हैं। तब शिष्य कहते हैं कि 'देखो, गुरुजी हमारा दिया वस्त्र पहने हुए हैं।' यह हमारा अनुभव है। भगवान् भी जब धरतीपर उतरते हैं तो धरतीके रंगका वस्त्र इसलिए धारण कर आते हैं कि उसे देखकर और पृथ्वीवासी प्रसन्न हो जायँ।

यह श्रीराधारानीके अंगका रंग है। प्रत्यक्ष रूपसे उनसे आलिङ्गित नहीं हो सकते तो पीताम्बर द्वारा आलिङ्गित होते हैं।

'पीताम्बर' का अर्थ है जिसने आकाश भी पी लिया हो :, 'पीतम् अम्बरं येन'। श्रीकृष्णका ही एक नाम है पीताम्बर और पीता यानी पीतवर्णा राधा। 'पीता = श्रीकृष्णेन पुनः पुनः पीता' यानी श्रीकृष्णने बार-बार जिसका पान किया वह है पीता। उनका वस्त्र धारण किया है। 'कनककपिश' कहनेसे यह पीताम्बर बहुमूल्य भी सूचित होता है, पीत-रक्त भी सूचित होता है। वस्त्र पृथ्वी है और पीता = राधा, आराधना है। पृथ्वीसे अभिप्राय है

सत्ताका, और आराधनासे अभिप्राय है प्रेमका। जिससे सत्ता और प्रेम, ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों प्रकट हो—उसका नाम है 'पीताम्बर'।

वैजयन्तीं च मालाम्। गलेमें माला है। 'मा लीना यस्यां सा माला'—लक्ष्मी भी जिसके भीतर छिपकर निवास करती है, उसका नाम है माला। 'मा लीयते अस्याम्'। 'माम्=शोभां लक्ष्मीं प्रमां लाति इति माला। मा यानी ज्ञान, प्रभा, यथार्थ निश्चय। जब हम वनमाला देखते हैं तो निश्चय हो जाता है कि भगवान्‌के सिवा यह दूसरा कोई नहीं पहनेगा। लक्ष्मी उसके भीतर छिपी रहती है। यह वैजयन्ती माला कैसी है ? किसी-किसीने तो कहा है कि यह नवरत्नोंकी माला है। किसीका कहना है कि पँचरँगे पुष्पोंकी माला है। किसीने कहा : 'शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन पाँच भावोंकी माला है।' भगवान्‌को आप वन-माला पहनाइये और संसारकी ओरसे शान्त हो जाइये। अपने बड़प्पनका त्याग कर दीजिये। श्रीकृष्णसे मैत्री जोड़िये, उनपर सारा स्नेह उड़ेल दीजिये और मधुर-मधुर होकर उनके साथ मिल जाइये। बोलते ही हैं : 'मैं आपके गलेकी माला बन जाऊँ!' तो जिसमें सर्वत्र प्रेमियोंकी जीत ही जीत है, वह वैजयन्ती-माला भगवान् धारण किये हुए हैं। इसकी गन्धसे भगवान्‌के चारों ओर मत्त भ्रमर मँडराते रहते हैं। इसमें सारी सम्पदा वृन्दावनकी है। वृन्दावनके पुष्पोंकी ही जो माला है।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।

वेणु है और छिद्र ह। कहते हैं, एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण गोवर्धनकी किसी उपत्यकामें विराजमान होकर 'श्रीराधा,

श्रीराधा, श्रीराधा' कहने लगे। उन्हें चारों ओर राधाकी स्फुरणा होने लगीं :

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमातश्च राधा
राधाऽधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा ॥
(वि० मा० ५.१८)

यही विशेषता है कि और सब मतोंमें जीव ईश्वरकी आराधना करते हैं और हमारे मतमें ईश्वर ही आराधक होकर प्रकट होता है। यदि ईश्वर जीवके प्रति अनुग्रह न करे, उससे प्रेम न करे, उसपर करुणा न करे, उससे सख्य न जोड़े, उसपर वात्सल्य न करे और उसका चीर-हरण न कर ले तो उसका कल्याण कैसे हो ?

चीर-हरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि स्वयं ईश्वर जीवका चीरहरण न कर ले; बेहया होकर नंगा होकर ही उसके सामने जाना पड़े तो उसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। स्वयं निरावरण होनेपर चिदनुभूति तो हो सकती है, पर रसानुभूति नहीं। जब हमारा वर ईश्वर स्वयं निरावरण करता है तब रसानुभूति होती है। यह चीर-हरणकी महिमा है। **धिक् तां या याचते स्वयम्**—यह शृङ्गार रसकी मर्यादा है। प्रियतम ही चीरहरण करता है।

आराधक कृष्णके चारों ओर जब राधा ही राधा हुई, उनकी यही वाग्धारा निकली तो सरस्वतीने सोचा—'ये सारी ही दुनिया-को भूल गये, केवल राधाकी रट लगा रहे हैं।' वाक्का परित्याग नहीं हुआ वाक् बोल रही है : 'राधा राधा राधा।' तो मैं भी इनकी प्यारी हूँ। इसलिए वह मूर्तिमान् होकर आ पहुँचीं। मूर्तिमती सरस्वती हाथ जोड़कर श्रीकृष्णके सामने खड़ी हो गयीं।

श्रीकृष्णके नेत्र खुले : 'कौन है री तू ?' बोलीं : 'महाराज, आपको आत्मसमर्पण करनेके लिए आयी हूँ। मैं आपकी प्रिया हूँ। राधा-स्मृति-कालमें भी आपने मेरा परित्याग नहीं किया। मैं वाग्देवी हूँ।' बोले : 'आज तिरस्कार कर दिया।' तिरस्कृत होते ही ज्ञान-देवी, विद्या-देवी, वाग्देवी, सरस्वती देवी जड़भावापन्न हो गयीं।

प्रेममें ज्ञानका तिरस्कार होनेपर ही रसकी पूर्णता होती है। वहाँ सत्ता गौण हो जाती है। सम्राट्-सम्राट् नहीं रहता, ज्ञानी-ज्ञानी नहीं रहता। अपनी सत्ताका मद और ज्ञानकी पूर्णता एक ओर रखें, तब रसमें डूबना सधता है। यही रसकी महिमा है। सरस्वतीका तिरस्कार हुआ, वे जड़ होकर व्रजमें वेणु बनीं।

गोपियाँ तो कहती हैं : "यह वेणु नहीं, 'वेन' है—वेन राजा-अवतार है। यह राजा वेन क्यों है ? इसलिए कि हम लोगोंके ममभेदके लिए यह प्रकट हुआ है। यह स्त्री नहीं, पुरुष है—वेणु वेनावतार है। भगवान् श्रीकृष्ण वेनको भी वेणु होनेपर अपने अधराऽमृतका अधिकारी बना देते हैं। व्रजके सूखे बाँसको भी अधराऽमृतका अधिकारी बना देते हैं।"

"सरस्वतीने श्रीकृष्णके अधराऽमृतपानकी वासना की तो उसके वंशी बननेपर वह पूर्ण हुई।"

"वेणुरूपा सरस्वती सोचती हैं—'मैं क्षुद्र वंशकी वंशी हूँ। छिद्रोंसे भरा हुआ है मेरा तन। मेरे अन्दर कोई योग्यता नहीं।' फिर भी श्रीकृष्ण उसके छिद्रोंको भी अपनी अधर-सुधासे भरते हैं कि तू निराश मत हो, उदास मत हो। सूखी, छेदवाली पोली, लकड़ी, मुँह-जली बाँसुरीको भी अपनी अधर-सुधासे भर देते हैं तो हम तो उसकी सजातीया गोपी हैं। वे गोप हैं, तो हम गोपी !"

"शुक्ल यजुर्वेदमें एक मन्त्र है। भगवान्‌को ऋषियोंने देखा या नहीं, यह अलग बात है, परन्तु गाय चरानेवालोंने देखा और पनिहारिनोंने देखा। वह मन्त्र है :

उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्य्यः। स दृष्टो मृडयाति नः॥
(माध्यन्दिन-संहिता १६.७)

अर्थात् ग्वालों, गोपोंने जिसे देखा, पानी भरनेवाली पनिहारिनोंने जिसे देखा, वह हमें दर्शन देकर सुखी करे। अब बताओ, वेद कहता है कि ग्वालोंने, चरवाहोंने उसे देखा और पनिहारिनोंने उसे देखा! अजी, जो सूखे बाँसकी बंसुरियाको अपनी अधर-सुधासे भर देता है, क्या वह हम गोपियोंको नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा।"

आशाबन्ध : आशा बाँधो, तो अवश्य मिलेगा।

गीतकीर्ति : वेदान्ती बोलते हैं कि स्वरूपके श्रवणसे परमात्मा-की प्राप्ति होती है, तो कीर्तिके श्रवणसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—यह भक्ति-सिद्धान्त है। वेदान्ती भी कहेगा कि श्रवणसे भगवान् मिलता है और भक्त भी कहेगा कि श्रवणसे भगवान् मिलेगा :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
(भाग ७.५.२३)

बात यह है कि हृदयमें भगवान् छिपा है और बाहर भी परिपूर्ण है। लेकिन जीवके हृदयमें बहुत सारी बातें आ गयी हैं। तो, जब कानके रास्ते परमात्माको डालते हैं तो वह विकारों-को मिटाकर बाहर और भीतरवाले परमात्माको एक कर देता है। परिपूर्ण परमात्मा और अन्तस्थ परमात्मा दोनोंको एक करने, प्रतिबन्धोंको मिटाकर विकारोंका निवारण करनेकी सामर्थ्यं,

श्रवणमें ही है। तो, वेदान्तमें भी श्रवण प्रधान है और भक्तिमें भी। किन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि वेदान्तमें स्वरूपका श्रवण है, तो भक्तिमें भगवान्की कीर्तिका। यश विस्तृत होता है, दिग्दिगन्तव्यापी होता है तो कीर्ति चिरस्थायिनी। कालकी लम्बाईमें जो रहे, सो कीर्ति और देशकी लम्बाई-चौड़ाईमें जो फैले सो यश! यश धवलताका विस्तार है तो कीर्ति उसकी स्थिरता। कीर्ति शब्दमें निवास करती है। अतः उसका श्रवण होता है। इसीसे राधारानीकी माँका नाम है कीर्ति।

यदि आप चाहें कि हमारे हृदयमें राधारानी आकर बैठ जायँ और श्रीकृष्ण उनके चारों ओर मँड़रायें, तो आपको कीर्तिमातासे प्रेम करना पड़ेगा। इधर कीर्तिमाता हैं, तो इधर यशोदा। उधर यश है तो इधर कीर्ति। राधामें स्थिरता लानेकी आवश्यकता है, यानी राधारानीमें स्थैर्य होना चाहिए और श्रीकृष्णमें केवल संकीर्णता न हो, उसे विस्तृत, सर्वव्यापी हो जाना चाहिए। यशोदाका पुत्र श्रीकृष्ण और कीर्तिदाकी पुत्री श्रीराधारानी!

गोपवृन्दैर्गीतकीर्तिः। भगवान् श्रीकृष्ण कीर्तिका गान कर रहे हैं। गोप-ग्वाल कीर्तिका गान कर रहे हैं और श्रीकृष्ण वृन्दारण्यमें प्रवेश कर रहे हैं।

अब वृन्दारण्यका वर्णन है। आगे-आगे-आगे गौएँ हैं, पीछे-पीछे पीताम्बरधारी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर बाँसुरी बजा रहे हैं। नृत्यके तालपर पादविन्यास करते आगे बढ़ रहे हैं। कभी होठोंपर मुस्कान आती है, तो कभी प्रेमभरी चितवन। कभी भौंहें मटकती हैं, कभी मुकुट लटकता है, तो कभी पीताम्बर चटकता है। आगे बढ़ रहे हैं और गोपवृन्द कीर्तिका गान कर रहे हैं!

यह वृन्दारण्य है। संस्कृतभाषामें अरण्य यानी शरण्य होता

है। 'शरण्य' यानी जिसकी शरण ली जाय। अरण्य शब्द 'ऋ' धातुसे बनता है। चौथेपन नृपकानन जाँहि। शत्रुसे हारकर भी राजा लोग अरण्यकी शरण लेते हैं, निवृत्त होकर महात्मा लोग अरण्यको ही शरण्य बनाते हैं। ऐसे ही वृन्दारण्य है। यह कैसा है? स्वपदरमणम्। उसमें भगवान्‌के चरणचिह्न है। वहाँका एक-एक चप्पा भगवान्‌के चरणोंके चिह्नोंसे अंकित है। वहाँकी भूमिमें एक भी ऐसा बालू-कण नहीं, जिसपर भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द न पड़े हों: 'स्वपदैः अंकितैः रमणम्।' अतएव वृन्दावनका सौन्दर्य वहाँके बाह्य सौन्दर्यमें नहीं। श्रीकृष्णके चरणस्पर्शका सौन्दर्य वहाँके कण-कणमें भरा है।

अथवा 'स्वस्याः श्रीराधायाः अंकितैः पदैः रमणम्'—श्रीकृष्ण जहाँ जाते हैं, वहाँ श्रीराधारानी कभी सखियोंके साथ फूल चुननेके लिए आती हैं, कभी चाँदनी देखनेके लिए आती हैं, कभी यमुना तटपर आती हैं। सर्वत्र श्रीराधारानीके चरणचिह्नोंसे रमणीयता है।

हमारे गौड़ेश्वर-सम्प्रदायके आचार्योंने कहा है: स्वपदाद् वैकुण्ठादपि रमणम्। वैकुण्ठमें भगवान्‌को धूल नहीं मिलती। जैसे कमलमें पराग होता है, वैसे भगवान्‌के चरणारविन्दके पराग ही वहाँ धूलिके रूपमें मिल सकती है। धरतीका तो प्रवेश ही नहीं है। वहाँ लक्ष्मीदेवीका राज्य है। भगवान् श्रीदेवी और भूदेवी दोनोंके स्वामी हैं। श्रीदेवीका महल है वैकुण्ठ। भगवान्‌को वहाँ बहुत आनन्द है, स्वर्णलक्ष्मी हैं। पर यहाँ तो कृपिलक्ष्मी है। धरतीमें कृषि-लक्ष्मी है और वैकुण्ठमें स्वर्ण-लक्ष्मी। तान्त्रिकों-की भाषामें 'कनकलक्ष्मी' हैं। वे कहते हैं कि स्वर्णलक्ष्मीके पास भगवान्‌को अधिक आनन्द आता है या धरतीके पास अधिक आता है? 'स्वपदरमणम्: स्वपदाद् वैकुण्ठादपि रमणम्'—इतना

स्वाद, आनन्द वैकुण्ठमें कभी नहीं आया जितना वृन्दारण्यमें विचरण करनेमें आता है। यह श्रीकृष्णकी रमण-भूमि है तो वह है ऐश्वर्य भूमि। वहाँ बैठकर तो भगवान् ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्रमा, गरुड़, अग्नि, जल और वायु पर शासन करते हैं। वैकुण्ठ ऐश्वर्यकी भूमि है। वहाँ यह नहीं है कि विष्णु भगवान् खड़े होकर नाचने लग जायँ या गाने-बजाने लग जायँ।

अरे! वहाँ तो लक्ष्मीजी जब पाँवको थोड़ा जोरसे हाथ लगाती हैं, तो थोड़ा आँख खोलकर देखते हैं। जब वह यह बताती हैं कि 'आपका भक्त आया है' तो वे मुस्कुराकर जरा देख लेते और फिर आँखें बन्द कर लेते हैं। वे अर्धोन्मीलित नेत्रसे वैकुण्ठमें निवास करते हैं। लेकिन यहाँ तो छुट्टे-छड़िगे रहते हैं। न कपड़ेका खयाल, न धूलका! न संवरना और न सिंगारना!, कुछ भी नहीं। यहाँकी रज ही भगवान्के शरीरका शृंगार बनती है। वृक्ष-वृक्षसे लिपटते हैं। लता-लताको छेड़ते हैं। प्रत्येक बालूके कणका स्पर्श करते हैं। यहाँके पदार्थोंका चुम्बन करते हुए उन्हें परमानन्द प्रदान करते हैं।

प्राविशत् : प्राविशत्का एक अर्थ होता है, प्रवेश किया। किन्तु यदि उसमें 'आ' भी मान लें, केवल आविशत् और 'प्र' की सन्धि न मानें तो आ का अर्थ होता है : समन्तात् = चारों ओर। यानी चारों ओरसे प्रवेश किया। समग्र वृन्दावन श्रीकृष्णमय हो गया, जहाँ देखो वहीं कृष्ण!

आओ, अब हम मनसे वृन्दावन चलें। आप जीवनमें मनको तो बहुत महत्त्व देते हैं। सुख भी मनसे मालूम पड़ता है और दुःख भी। यह माता और यह पिता है—यह भी मनसे मालूम पड़ता है। यह पति-पत्नी हैं—यह भी मानसिक ही है। स्त्रीका

आकार और पुरुषका आकार तो हमें आँखों से दीखते हैं, पर 'यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी है' यह मनसे ही दीखता है। इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु मनको, जिससे संसारके सारे सम्बन्ध, राग-द्वेष, सुख-दुःख प्रतीत होते हैं, थोड़ी देरके लिए वृन्दावन ले चलिये। वृन्दावनाकार कर दीजिये उसे। आपका मन वृन्दावन है और जैसे वृन्दावनकी गोदमें वृन्दावनविहारी नृत्य करते हैं, वैसे ही आप अपने मनकी गोदमें वृन्दावनविहारीको लीला-विलास करने दीजिये। संसारके दुःखकी विस्मृतिके लिए इससे सुगम और सरस और कोई उपाय नहीं।

वृन्दावनकी कुंजगलिनमों नाचत नंदकिशोर।
वृन्दावनकी माधुरी इन रसिकन मिलि आस्वादन कियौ।

मोर-मुकुट, पीले पुष्पोंके कुण्डल, घुंघराले-काले, घने-महीन, चिकने बालों, केशपाशोंमें मनको फँसा लें। उनकी रस्सी नहीं बँटनी पड़ती है। केशोंका वह एक-एक धागा मनको फँसा लेता है। अनुग्रहभरी वे भौहें, वह गोरोचन-खचित ललाट, वह प्रेमपूर्ण चितवन, बड़ी-बड़ी आँखें ! वह मन्द मधुर मुस्कान, वह सुचिक्कण कपोल, वह कुण्डल, वह वनमाला और वह बाँसुरी !

किती न गोकुल कुलवधू, किहि न काहि सिख दीन।
कौनैं तजी न कुलगली, ह्वै मुरलीसुर लीन॥
(बि. र. ६५२)

सबको सबने वृन्दावनमें शिक्षा दी, पर मुरलीके स्वरमें लीन होकर किसने कुलगलीका परित्याग नहीं किया ? वंश-परम्परा छूट गयी। वशी ने असली 'वंश'को छुड़ा दिया जो संसारमें जाना-माना था और भगवान्के वंशमें जोड़ दिया। जैसे विवाह

होनेपर गोत्र बदल जाता है वैसे ही इनका गोत्र-परिवर्तन कर दिया। वे भगवद्वंशमें सम्मिलित हो गयीं।

यह अनूठा आचार्य नाद-मन्त्र देता है, वर्ण-मन्त्र नहीं। गुरु लोग तो वर्णात्मक मन्त्रका उपदेश करते हैं जो षड़क्षर, द्वादशाक्षर, अष्टादशाक्षर आदि होते हैं। लेकिन अनोखा यह आचार्य ध्वन्यात्मक शब्दका उपदेश करता है। किसी-किसीका तो मत है कि 'ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।' जिससे कुछ अर्थ ध्वनित हो, उसे 'ध्वनि' कहते हैं।

गोपियाँ बाँसुरी बजाती हुई श्रीकृष्णको अपने मनके नयनोंसे देख रही हैं। श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं :

इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

श्री शुकदेवजीने देखा कि परीक्षित् वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी रूपराशिमें, लीला-माधुरीमें, वंशीध्वनिमें निमग्न हो गये हैं, तो बोले : 'राजन् आगे बढ़ो—इति वेणुरवं राजन्।' यह कृष्ण-रव नहीं, वेणु-रव है। यह मन्त्र श्रीकृष्ण नहीं दे रहे हैं। मन्त्र-दीक्षा तो श्रीकृष्णके अधरोंसे लगी वेणु दे रही है। वेणुकी ओरसे तो आता है 'रव', पर गोपी उधर कान लगाती हैं तो वह 'वर' बन जाता है। कृष्णकी ओरसे 'रव' है तो गोपीकी ओरसे 'वर'।

स्तुति-कुसुमांजलिमें जगद्धरभट्टने 'रव' शब्दकी व्याख्या की है :

यस्ते यदं वहति तस्य दमं विधत्से,
यस्ते रवं वदति तस्य वरं ददासि।
इत्यक्षरद्वय - विपर्यय - केलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो नमनः करोषि ॥

अर्थात् "जो आपके सामने 'मद', अभिमान करता है उसका आप 'दम', दमन करते हैं जो आपको 'रव' देता है उसे आप 'वर' प्रदान करते हैं। इस तरह आप दोनों अक्षरोंको उलट दिया करते हैं। इसीमें आपको मजा आता है। तो, मैं आपको 'नमः' करता हूँ, अब आप अपना 'मन' मेरी ओर कर दीजिये।" तो, यहाँ भी श्रीकृष्ण 'रव' देते हैं तो गोपियोंके लिए वह 'वर' बन जाता है।

इति वेणुरवं राजन्। यहाँ 'इति' शब्दका अर्थ समाप्ति नहीं, प्रकार है। जैसे : भगवान् श्रीकृष्ण ठुमुक-ठुमुककर बाँसुरी बजाते, पीताम्बर फहराते, ग्वाल-बालोंके साथ नाचते-गाते वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। यह एक ही लीला नहीं है, ऐसी-ऐसी अनेक लीलाएँ हैं। वेणुकी स्वरलहरी एक-रागिनीमें प्रवाहित नहीं होती, कोटि-कोटि स्वरोंमें नवीन-नवीन तालोंमें प्रवाहित होती है श्रीमद्भागवतमें आया है कि श्रीकृष्णने किसीसे जो राग-रागिनी सीखी, उतना ही नहीं जानते। वे तो 'निजशिक्षाः' हैं। स्वयं उन्होंने कोटि-कोटि राग-रागिनियाँ सीख ली हैं : **वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः** (भाग १०.३५.१४.)

योगी लोग कहते हैं कि मनको वशमें करो। इसके लिए आसन करो, प्राणायाम करो, पीठकी रीढ़ सीधी करो, आँखें अधखुली रखो, प्राणोंका संयमन करो, तब कहीं मनका वशीकरण होगा। वेदान्ती कहते हैं कि अपने चेतन अधिष्ठानमें मन नामकी कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। वे उसका बाध ही कर देते हैं। तो, एकने मनकी सत्ता बाधित कर दी तो दूसरेने उसे वश कर कैदमें डाल दिया। किन्तु एक कोई ऐसा भी है जिसे मन बहुत प्यारा है। वह तो जैसे रुक्मिणीका हरण कर लेता है, वैसे ही अपने प्रेमियोंका मन भी हर लेता है। यदि यह मन तुम्हारे पास

रहेगा तो वशीकरण करना पड़ेगा। बाध करना पड़ेगा, लड़ाई-झगड़ा, संघर्ष करना होगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि आओ, हम तुम्हारा मन ही चुरा लें।

तो, भगवान्ने किस उपकरणसे यह मन चुराया? वेणुरवसे, वंशी-नादसे। मनको अमृतका ऐसा चस्का लगा दिया कि उससे वह हर ही लिया गया। भक्त लोग कहते हैं कि प्रभु, तुम्हारे पास कमी किस बात की है? रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा—रत्नोंका खजाना समुद्र तो आपका घर है और स्वयं लक्ष्मीदेवी आपकी गृहिणी हैं तथा आप जगत्के परमेश्वर, जगदीश्वर हैं। आपको हम क्या दें?—किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय। हाँ, एक चीजकी आपके पास कमी है। वह आपके पास है नहीं श्रीराधाजीने उसे छीन लिया है, इसलिए हम उसीको दिये देते हैं:

राधागृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण।

भक्त लोग कहते हैं कि हम दान करते हैं अपने मनका। भगवान् कहते हैं कि "बेटा, दान करके तुम दाता क्यों बनते हो? आओ, हम छीन लेते हैं। यदि तुम हमें दधि और नवनीत खिलाओगे तो तुम्हें अभिमान हो जायगा कि हमने यह दिया, हमने वह दिया। हम ऐसे लेनेवाले नहीं कि तुम्हारे अन्दर दातापनका अभिमान छोड़ दें। राजा बलिको धरती छीन ली, स्वर्ग छीन लिया और सोचा कि तुम्हें भी क्यों छोड़ें और सिरपर पांव रख दिया। दातामें दातापनका अभिमान न रहे, इसलिए आओ, तुम्हें खुद ही ले लें: सर्वभूतमनोहरम्।" प्रश्न होगा कि किस ज्ञानीका, किस योगीका या किस भक्तका मन भगवान् छीनते हैं? किन्तु इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं। उनके पास पहुँचते-पहुँचते सभीका

मन एक हो जाता है। जबतक उनसे दूर हैं, तभीतक वह अलग-अलग है।

भक्त बताते हैं कि इसमें भगवान्‌की बड़ी विदग्धता, चतुरता है—बड़े चालाक हैं वे। क्या चालाकी की? सबका मन छीन लिया, पर गोपियोंका मन उन्हींके पास रहने दिया। **सर्वभूत-मनोहरम्, विक्षिप्तमनसो नृप।** गोपियोंका मन तो उन्हींके पास है। उसमें प्रेमकी तरंगें उठ रही हैं। प्रेमका सौरभ फैल रहा है। प्रेमकी रस-माधुरी विकीर्ण हो रही है। प्रेमका सौन्दर्य बिखर रहा है। प्रेमका सौकुमार्य उनके मनको कोमल बना रहा है। प्रेमका सौस्वर्य उनके मनको नचा रहा है। भगवान्‌ने सोचा कि कहीं गोपियोंके इस मनको कोई देख न लें, इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों-का मन अपना ओर खींच लिया। अब वे भगवान्‌की ओर देखने लगे और भगवान् देखने लगे गोपियोंके मनकी ओर। सबका मन खींच लिया अपनी ओर और स्वयं खिच गये गोपियोंकी ओर!

श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे। 'अभिरेमिरे' ऐसा भी पाठ मिलता है। गोपियाँ यानी उनकी जीभ श्रीकृष्णका गान करती है। उनका मन उनके पास है। वे वर्णन करती और श्रीकृष्णको आलिंगन देती जाती हैं। वर्णनकी यह महिमा देखें। जहाँ शब्द अर्थका साक्षात्कार नहीं कराता, वहाँ वह निरर्थक हो जाता है; क्योंकि शब्द और अर्थका औत्पत्तिक, नित्य सम्बन्ध है।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।

(पूर्वमीमांसा १.१.५)

जहाँ शब्दका जन्म है, वहीं अर्थका भी जन्म है। बल्कि बीज-में शब्द और अर्थ एक ही हैं। अतः जब हम 'कृष्ण' शब्दका

उच्चारण करते हैं तो मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, श्याम-सुन्दर, नन्दनन्दनरूप अर्थ आकर हमारी बुद्धिवृत्तिके सम्मुख खड़ा हो जाता है। तो, गोपियाँ उनका आलिंगन करती हैं, उनके साथ अभिरमण करती हैं। इसीका नाम है 'अभिरमण'!

कस्माद्वृन्दे प्रियसखि, हरेः पादमूलात् कुतोऽसौ?
कुन्दारण्ये, किमिह कुरुते? नृत्यशिक्षां, गुरुः कः।
तं त्वन्मूर्तिः प्रतितरुलतं दिग्विदिक्षु स्फुरन्ती
शैलूषीव भ्रमति परितो नर्तयन्ती स्वपश्चात्॥
(गो० ली० ८.७७)

श्रीराधारानी वृन्दासे पूछ रही हैं: सखि! कहाँसे आ रही हो?

श्रीकृष्णके चरणोंसे।

वे इस समय कहाँ हैं?

कुन्दवनमें।

क्या कर रहे हैं?

नृत्य सीख रहे हैं।

कौन सिखा रहा है?

प्रत्येक वृक्ष, लता, दिशा और विदिशामें तुम्हारी मूर्ति स्फुरित हो रही है और जैसे नटी नटको नचाये, वैसे वह कृष्णको नचा रही है।

सर्वभूतमनोहरम् नाचना सीख रहे हैं। अब गोपियोंसे रहा नहीं गया। वैसे कहते हैं कि प्रेम जितना गुप्त रहता है, उतना ही बढ़ता है। यही प्रेमकी मर्यादा है:

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव,
हृद्वेश्म भासयति निश्चल एव भाति।
द्वारादयं वदनस्तु बहिष्कृतश्चेन्
निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥
(प्रे० सं० ६८७)

व्यक्ति दो हैं, हृदय दो हैं, पर प्रेम है अद्वय। दीपककी तरह प्रज्वलित हो रहा है। किन्तु मुँहके द्वारसे बाहर निकलते ही या तो लड़खड़ाने लगेगा या बुझ जायगा। अतः प्रेमी अपने प्रेम-धनको बहुत गुप्त रखते हैं। इसीसे तो गोपीका नाम 'गोपी' है—वह गोपनशीला है। जो अपने प्रेमको छिपाये, प्रियतमको छिपाये उसका नाम है 'गोपी'। फिर भी जब हृदयमें पीड़ाका उत्कर्ष होता है तो वह हृदयको भी मटियामेट कर देता है।

तो, वे बोली : 'हमारा हृदय फट जायगा तो क्या होगा? प्रियतमको मालूम पड़े कि उनके प्रेममें हमारा हृदय फट गया तो उनका हृदय कैसे सानन्द रहेगा? क्या हमारा हृदय फट जानेपर वे प्रसन्न होंगे? नहीं। तब ऐसा उपाय करें कि वह न फटे और उनके प्रेमसे तर बना रहे। हम प्रेमकी आंचमें झुलसती भी जीवित रहेंगी और अपना हृदय फटनेका समाचार अपने प्रियतमतक नहीं पहुँचने देंगी। प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए हृदयकी रक्षा करेंगी।

हृदयकी रक्षा कैसे होगी? गोपीने कहा :

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥
(उत्तररामचरित)

किसी तालाबके लबालब भर जानेपर उसमेंसे थोड़ा पानी निकाल दिया जाय तो उसकी रक्षा हो जाती है इसी प्रकार जब हृदयमें कोई क्षोभ होता है—फिर वह चाहे प्रेमका हो, चाहे लोभका—यदि थोड़ा-सा रोकर निकाल दिया जाय तो हृदयकी रक्षा हो जाती है। इसीका नाम है 'वेणु-गीत'।

गोप्य ऊचुः। यानी गोपियाँ बोलती हैं। कौन-सी गोपियाँ ? श्रुतिरूपा गोपियाँ; क्योंकि वे वाग्रूपा हैं। सबसे पहले वे ही बोलीं :

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥

गोपियाँ बोलती हैं : 'मनसि चिन्तितं, मनसि प्रतिष्ठितं, मनसि उपस्थितम् इदम्, अक्षण्वतां फलमिदं प्रत्यक्षम्।' बल्कि विरहकी दशामें बोलना हो तो अपरोक्ष ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। प्रेम और आत्मामें यही अन्तर है कि आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है जब कि प्रेम परोक्ष। आत्मा साक्षी है तो प्रेम है साक्षिभास्य। प्रेम आभासभास्य नहीं, इसीलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। जो कहता है कि 'हम आँखोंसे प्रेम देख रहे हैं', उसे प्रेमकी पहचान ही नहीं। प्रेम आँखोंसे नहीं देखा जाता। वह प्रेमीके मनमें होता है और आत्मासे ही उसका अपरोक्ष होता है। जिसके प्रति हमारे हृदयमें प्रेम है, वह प्रियतम हमारे हृदयमें रहता है और वहीं 'उसके प्रति हमारा प्रेम और उसका हमारे प्रति प्रेम' दोनोंका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है।

आओ, अब 'अक्षण्वतां फलमिदम्' बोलें। एकने कहा कि जब हम समाधिमें, अन्तर्योगमें, अन्तर्गुहामें या अन्तर्देशके सूक्ष्मतम

प्रदेशमें प्रवेश करेंगे तब वहाँ प्रियतम, परमात्माका दर्शन होगा। एकने कहा : 'नहीं जी ! जब हम वैकुण्ठमें जायँगे तब उनका दर्शन होगा।' ऐसा प्रियतम, जो तन्हाईमें मिले या वैकुण्ठ जानेपर ही मिले, आपको ही मुबारक हो। हमें तो न कालकी प्रतीक्षा करनी है, न देशकी। 'इदम्' यह जो इस समय हमारे हृदयमें दीख रहा है—मन्द-मन्द मुस्कुराता, प्रेममयी चितवनवाला, साँवरा-सलोना, लावण्य-सार, माधुर्यपूर्ण जो हमारे हृदयमें घर कर रहा है, वह क्या है ? नेत्रवानोंको जो नेत्र प्राप्त हुए हैं, उसीका यह फल है :

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभम्।

(भाग० १०.५२ ३७)

कोई अर्थको ही फल मानते हैं। यह बड़ी भारी पराधीनता है। कभी रहे तो कभी न रहे, कभी मिले तो कभी न मिले। कोई कामको ही पुरुषार्थ मानते हैं। हमारे यहाँ 'अर्थ-काम' पुरुषार्थ कभी उपेक्षित नहीं हैं। दुनियाकी सबसे बड़ी संख्या अर्थ और कामको ही पुरुषार्थ मानती है। 'अर्थ और कामके बारेमें हम नियन्त्रित रहें, बुद्धियुक्त होकर उचित व्यवहार करें' इस 'धर्म' पुरुषार्थको माननेवाले बहुत कम होते हैं। फिर भी अर्थ और काम दोनों अनित्य पुरुषार्थ हैं, धर्म नित्य पुरुषार्थका साधन है और मोक्ष है नित्य-पुरुषार्थ। वेदान्तज्ञान द्वारा आत्माके रूपमें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। तब उसमें आँखोंसे क्या लेना है ? आँखोंसे तो विलक्षण माया ही दीखेगी, अलक्षण ब्रह्म नहीं।

अच्छा, तो आओ, मनसे ही ध्यान करें। मनसे ध्यान करोगे तो क्या दीखेगा ? पहलेसे बैठे हुए शत्रु-मित्र, राग-द्वेष। तो, इसमें आँखें सफल कहाँ हुईं ? ज्ञेयका दर्शन तो मनकी आँखोंसे

हुआ। फिर ये आँखें क्योंकर बनीं? क्या दुनिया देखनेके लिए? बाबा! हमें तो दुनिया चाहिए ही नहीं।

बावरी वे अखियाँ जरि जायँ
जो साँवरो छोड़ि निहारति गोरो।

वे पगली आँखें जल जायँ, जो साँवरेको छोड़ गोरेको, दूसरेको देखती हैं। तो, आओ श्यामसुन्दरका दर्शन करें।

तो, गोपियाँ बोलीं: ध्यान और ज्ञानसे आँखें मिलनेका फल नहीं होगा। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी तो ध्यानसे विक्षेपकी। जब इन नेत्रों द्वारा ही परमात्माका साक्षात्कार हो, तभी इनको सफलता है। 'अक्षण्वतां फलमिदम्'—आँखवालोंको जो आँखें मिली हैं, उनका यही फल है।

अच्छा, इनका और कोई दूसरा फल है? आजकल तो फलोंको विकसित कर लेते हैं। छोटेको बड़ा बना लेते हैं, कड़वेको मीठा बना लेते हैं, नीरसको सरस बना लेते हैं। पर जो फल गोपियाँ बना रही हैं, उसे विकसित कर और उत्तम बनाया जा सकता है या नहीं? नहीं, वह विकास की, उल्लासकी सीमा है। वह अन्तिम फल है, स्वयं फल है। भक्तिके सम्बन्धमें भी कहा है:

स्वयंफलरूपेतति ब्रह्मकुमाराः।
(ना० भ० सू० ३०)

अर्थात् भक्ति स्वयं फलरूप है, ऐसा सनकादिकोंका मत है। असलमें फलका अनुभव तो भक्तिके उदरमें ही होता है। वृत्ति होनेपर ही उसका आभासरूप फल होगा।

अब 'फलम्' का क्या अर्थ है, यह देखें। एक कवि कहता है।

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥

देवकीकी कोखसे एक फल निकला। वह फल ऐसा था कि बड़े-बड़े मुक्तात्मा मुनि उसे ढूँढ़ा करते हैं। ऐसा ही कोई अनिर्वचनीय फल देवकी फलती है और उस फलका पालन-पोषण यानी पालने-पकानेका काम करती हैं माता यशोदा। जब वह खूब रसीला फल पक जाता है तो गोपियाँ मन भरकर उसका आस्वाद करती हैं। उपभोग करती हैं गोपियाँ, पालती हैं यशोदा और फलती हैं देवकी। बेचारे मुक्त-मुनि ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाते हैं कि कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा वह फल?

अच्छा आओ, इदं फलम्। इदमेव फलम्: कहते हैं कि यही सर्वोपरि रसाल फल, द्राक्षाफल, राम-फल या अमृत-फल है। न परम्। यही फल है सर्वोपरि, सर्वातिशायी, निरुत्तर। इसके बाद कोई फल नहीं, यह परम फल है।

देखिये, ये जो फूल हँसते हैं, उन्हें कभी श्रीकृष्णने छुआ था, कभी अपनी अंगुलियोंसे गुदगुदा दिया था। फलोंमें जो यह स्वाद है, भगवान् श्रीकृष्णने कभी अपनी जीभ उसे लगा दी थी। उन्हींके अधरामृतसे भरा यह रस है। यह सुन्दरता भी उन्हींकी एक चमकती झलक है। संसारकी कोमलता भी उन्हींकी है। सुस्वरता या सौस्वर्य भी श्रीकृष्णका ही है। उन्हींका प्रेम जन-जनमें, मन-मनमें प्रकट हो रहा है। उससे बड़ा और कुछ नहीं।

लेकिन गाँवकी ग्वालिनों, गोपियोंको यह बात कैसे मालूम हुई? अरे महाराज! भरोसा है, बोलो: विदामः। हमें दुनियाको'

सब पता है। एक विज्ञानसे हमें सर्वविज्ञान हो चुका है। सृष्टिमें कोई वस्तु नहीं जिसे हम नहीं जानतीं। हम श्रुति हैं, सर्वज्ञ हैं। हम जानती हैं कि इस फलसे बड़ा सृष्टिमें कोई फल है ही नहीं।

सख्यः। अरी प्यारी, तुम हमारी सखी हो, सहेली हो, हमारे दिलकी जानती हो; इसीलिए तुम्हें बताते हैं। 'सख्यः' का अर्थ है : 'समाना ख्यातिर्ययोः।' अर्थात् जैसी ख्याति यानी ज्ञान हमारे हृदयमें है, वैसा ही तुम्हारे हृदयमें भी है। एक ही चीज हमारे और तुम्हारे दोनोंके हृदयमें प्रकट हो रही है, इसीलिए हम सखी हैं और यह बात सखीसे ही कहनेयोग्य है :

चौदह कोटि ज्ञान तोहि भाखौं,
सारसब्द बाहर करि राखौं।
धर्मदास तोहि लाख दुहाई,
सार-शब्द बहर नहीं जाई।
अपना होय तो देहु बताई,
दूजा होय तो लेहु छुपाई॥

तो, तुम हमारी सखी हो, प्राणसखी हो निकुञ्ज-सखी हो। आओ, तुम्हें बताते हैं कि वह क्या है?

पशूननुविवेशयतो वयस्यैः।···यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्। आगे-आगे चलते हैं पशु। वे 'पशु' न होते तो श्रीकृष्णकी ओर पीठ किये क्यों चलते? अतः यह उचित शब्दका ही प्रयोग है। वृन्दावनके पं० सुन्दरदासजी कहते थे : 'कम्बख्त पशु है'। तो, पशु कौन है? जो सामने रखे सूखे-सूखे, भूसा-खली या दाल-चावल, सबको निर्विशेष भावसे खाता जाय, वही पशु है। तो, ये पशु श्रीकृष्णकी ओर पीठ करके चलते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण अपनी ओर पीठ करनेवालेकी ओर भी पीठ नहीं करते। उसकी ओर

भी मुख ही करते हैं, उसका भी ठीक-ठीक ध्यान रखते हैं—ठीक ठीक संचालन करते हैं।

वास्तवमें भक्तोंके अन्तर्यामीका यही स्वभाव होता है। वह आँखोंके पीछे रहकर आँखोंका नियन्त्रण करता है। मनके पीछे रहकर मनका नियन्त्रण करता है। वृत्तियोंके पीछे रहकर वृत्तियों-का नियन्त्रण करता है। यह श्रीकृष्णका कुछ नया वर्णन नहीं। है तो वही, बोलनेकी शैली नयी है।

यत्र प्रदर्श्या विषयाः सनातना
यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने।

(व्र० वि० १.२१)

प्रदर्शन सनातन विषयका ही है, पर उसका प्रकार, ढंग, शैली नवीन है। यह अन्तर्यामी पशुओंके पीछे-पीछे चलता है : 'पशूननुविवेशयतो वयस्यैः'। क्या यह अकेले चलता है? नहीं, यह तो आत्मा है, अपने प्राण-स्वरके साथ चलता है। अच्छा, वे भी चलते हैं? नहीं, 'वयस्यैः'। जितने प्रेमके हावभाव हैं। इस प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव, सबके साथ चलता है। पशुओंके पीछे-पीछे सबको लेकर चलता है। स्वयं चलता है तो उसका परिकर तो चलेगा ही।

वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु। गोपियोंने कहा कि देखो, एकका, केवल श्यामका वर्णन करेंगे तो जो सुनेगा वही कहेगा : 'यह श्यामके प्रति अनुरक्त है।' अतः दोनोंका वर्णन एक साथ किया। जैसे स्त्रियोंको अपने पतिकी बात कहनी होती है तो 'उन लोगों' कहती हैं। उनसे पूछिये कि 'उन लोगों'में कितने हैं, तो एक ही निकलेगा। लेकिन अपने एकको छिपानेके लिए 'वे, ये, उनको'

ऐसे शब्द बोलती हैं। इसी तरह गोपियोंको कहना तो एक ही है, पर वे बोलती हैं। 'व्रजेशसुतयोः।' व्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण और बलराम दोनों 'पशूननुविवेशयतो'—पशुओंके पीछे-पीछे वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं।

कोई-कोई तो कहते हैं कि शृङ्गार रसके प्रसंगमें यहाँ बलरामजीको लाकर क्या रख दिया? बड़े भाईके रहते क्या श्रीकृष्णके मनमें शृंगारका उद्‌बोध होगा? लेकिन रसिकोंने इसकी व्याख्या ही बदल दी है। वे तो 'सहपशुपालबलः' में 'बलः' का अर्थ बलराम नहीं, 'पशुपालोंकी सेना' करते हैं। यहाँ भी वे 'व्रजेशसुतयोः' का अर्थ करते हैं :

व्रजेशश्च व्रजेशश्च व्रजेशौ वृषभानु-नन्दौ, सुतश्च सुता च सुतौ, व्रजेशयोः सुतौ व्रजेशसुतौ, तयोः व्रजेश-सुतयोः = राधा-कृष्णयोः इत्यर्थः।

अर्थात् व्रजेश नन्द है, व्रजेश वृषभानु हैं और एकका सुत है तो एककी है सुता। इस तरह 'व्रजेशसुतौ' श्रीराधा और श्रीकृष्ण ही तो, तुम् हैं [illegible] होती है, वही कृष्ण होते हैं। जहाँ कृष्ण होते हैं, वहीं राधा [illegible] कहीं इनका परस्पर विरोध नहीं होता। कृष्ण हैं और उनके प्रति प्रीति न हो और प्रीति हो और कृष्ण न हों, ऐसा संभव नहीं। प्रीति और कृष्णका स्वतःसिद्ध अयुतसंबंध है। जिनकी ओर पीठ करके चलते हैं वे तो पशु हैं, पर उन्हें भी ये श्रीकृष्ण वृन्दावन लिये जा रहे हैं।

इनका मुखारविन्द 'वक्त्रम्' है। जो बोले, उसे 'वक्त्र' कहते हैं और जो टेढ़ा हो, उसे 'वक्र'। बोलनेवालेका नाम वक्त्र है, इसका वाक्‌से सम्बन्ध है। और वक्र है टेढ़ा, बाँका। जैसे बाँकेबिहारीजी वक्र हैं।

वक्त्रं व्रजेशसुतयोः। हैं तो दो, पर मुख एक है। हैं तो बलराम-श्याम दोनों, पर गोपियोंको मुख दीखता है केवल श्यामसुन्दरका। हैं तो राधा-कृष्ण, परन्तु गोपियोंको उनके मुखमें कोई भेद ही नहीं मालूम पड़ता। आकार अनेक, नाम अनेक, पर दीखे एक तो वह भक्त है। इसी प्रकार नाम-रूपके न दीखनेका नाम वेदान्त नहीं है। नाम-रूपकी अनेकता दीख रही हो, पर 'अनेक आकृतियोंमें अनेक रूपोंमें, अनेक नामोंमें एक ही भरा-पूरा है' इस दृष्टिका नाम वेदान्त है। अनेकताको मिटानेका, अनेकताके अभावका नाम वेदान्त नहीं। देखो, दीख रहे हैं श्याम और बलराम, दीख रहे हैं राधा-कृष्ण, पर गोपियाँ कहती हैं ये एक मुख हैं, एक हैं।

वह मुख कैसा है? अनुवेणु, जिसपर बाँसुरी लगी हुई है।

हमारो तो मुरलीवारो स्याम !
बिनु मुरली बनमाल चन्द्रिका और न जानौं नाम ॥

फल क्या है? फल यह है: 'यैर्वा निपीतम्'। जिन्होंने इस मुखका सेवन किया और जिन्होंने इस मुखको पिया है—'निपीतम्'। आँखवालोंकी वे आँखें ही फलवती हैं जिन्होंने इस बांसुरीवाले मुखका सेवन किया या उसे पिया।

बोली: 'सखी, वह बांसुरीवाली बात तो कुछ मूर्ति-सरीखी लगती है। अब आपको ध्यानका रहस्य बतायें। आप चित्रका, मूर्ति का ध्यान करते हैं तो 'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्'—जरा चितवन की ओर देखो। मूर्तिकी चितवन एक-सी होती है, बांसुरी एक-सी रहती है, भौंह एक-सी रहती है और मुख एक-सा ही रहता है—यदि तुम ऐसा ध्यान करोगे तो तुम्हारे ध्यानमें जड़ता आयेगी।

जरा नेत्रोंकी ओर देखो, हम जो अनुरक्त गोपीजन हैं, उनकी ओर तिरछी चितवनसे देख रहे हैं। अपने कटाक्षसे अनुरागभरे दोनों नेत्रोंसे हम अनुरक्तोंकी ओर कटाक्ष-मोक्ष कर रहे हैं—अनुराग-भरे कटाक्ष द्वारा मोक्षका वितरण करते हुए कह रहे हैं कि 'कहाँ मोक्षके लिए भटक रही हो ? आओ न, देखो न हमारी ओर ! मोक्ष-महोदयके चक्करमें क्यों पड़ी हो ? मोक्ष तो स्वतःसिद्ध है।'

जो भोग भी नहीं चाहता, मोक्ष भी नहीं चाहता, ऐसा महाशय तो कोई विरला ही होता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे चाहते हैं कृष्ण और उसके ऊपर अपने कटाक्षसे मोक्षकी वर्षा करते हैं। मोक्ष उसके चिकने मन परसे सरक कर बह जाता है। जो मुक्ति हमें आदिकालसे मिली है और अन्तकालतक मिली रहेगी, जो हमसे नहीं बिछुड़ती उसे हमें क्यों देते हैं ? 'तब तुम्हें क्या चाहिए।' हमें एक तुम्हारी तिरछी चितवन चाहिए, यहीं बाँसुरीवाला सुख चाहिए। इसीका सेवन चाहिए। स्पर्शादि यही मिल जाय। आत्मा कब सफल होगी, यह वेदान्तियोंसे पूछो। कहेंगे—वह तो सफल है ही। जीवन सफल हो जाय अगर इस फलकी प्राप्ति हो जाय। यह व्यक्ति-जीवनकी सफलता है, व्यष्टि-जीवनकी सफलता है।

चूतप्रवाल-बर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्त-परिधान-विचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

जो धर्म गिरे हुएको उठा नहीं सकता, पतितोंको आश्वासन नहीं देता और चराचर पशु-पक्षियोंका कल्याण करनेमें समर्थ नहीं वह धर्म सच्चा और टिकाऊ नहीं। हम जिस धर्मकी चर्चा कर

भी रसिक लोग राधा ही मानते हैं। सखियोंके बीच वे राधा हो जाते हैं। स्त्रीलिंगमें उन्हें 'शक्ति' बोलते हैं तो पुँलिंगमें 'बल'। यहाँ प्राण और आत्माका संयोग है। श्रीकृष्ण ज्ञान हैं, तो बलराम हैं बल।

आपको ज्ञात होगा कि ज्ञानमें बल नहीं होता। ज्ञान खम्भेको खम्भा बता सकता है, पर मीठा नहीं बना सकता। किन्तु प्रेममें बल है। वह खम्भेको मीठा बना सकता है। खम्भेसे लिपट जायँ और उसके आलिंगनका आनन्द लें, यदि उससे प्रेम हो। ज्ञान यथार्थको ख्यात करता है और प्रेम अयथार्थको भी मधुर बना देता है तो यथार्थको बात ही क्या ? यही प्रेमकी महिमा है।

अब आओ, श्रीकृष्णका वेष देखो। मैच करते हुए कपड़े पहने जायँ, चूड़ियाँ, जूतियाँ पहनी जायँ, बिन्दिया लगायी जाय, यह नहीं बनता। बिल्कुल विचित्र वेष है, कहीं किसीका 'मैच' ही नहीं है। देखो, श्रीकृष्ण हैं साँवरे तो उनके ऊपर वस्त्र हैं पीत, चूत-प्रवाल, आमके ताजे पत्ते, हरे और लाल किसलय और बर्ह यानी मयूर-पिच्छ। खुद काले, वस्त्र पीला, आमका पत्ता हरा और मोरकी पाँख नीली-नीली।

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज···। गुच्छे हैं, मयूर-पिच्छ एक नहीं अनेक हैं। 'उत्पल' यानी ताजा खिला हुआ कमल और 'अब्ज' यानी प्रौढ़-वृद्ध कमल। नया-नया ताजा भी है और वृद्ध यानी पुराना भी है। ये सब उनके परिधान पीताम्बरसे अलग हैं। कहीं मेल है ही नहीं। ये बहुरंगी भगवान् हैं।

बम्बईमें हमारे एक मित्र हैं, जो मखमलके बड़े निर्यातक हैं। छोटे-छोटे टुकड़े, सी-सोकर रंग-बिरंगे थान बनाते हैं। हमें भी लाकर दिखलाते हुए बोले : 'महाराज, हमने अमेरिकामें बताया

कि हम इतने रंगोंके थान बना देते हैं, अलग-अलग टुकड़ोंको तोड़नेसे क्या लाभ ?' अमेरिकावालोंने कहा : 'एक ही थानमें अनेक रंग नहीं चलेगा, हमें तो फाड़-फाड़कर सिला चाहिए।'

भगवान् तो वही हैं जो हर रंगको स्वीकार करें। जो अनेक-को अपनेमें एक कर दे, उसीका नाम 'ईश्वर' है।

अब आपको अलग-अलग बतायें। पहले तो वेष ही देख लें। सिरपर मयूर-मुकुट। नटवर वेष होने के कारण आमोंके कोमल-कोमल पल्लव भी शरीरपर लटक रहे हैं; बहुरूपिया हैं पूरे-पूरे ! भगवान्का एक नाम 'बहुरूपिया' भी है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
(बृह० २.५.१९)

यदि भगवान् बहुरूप न हों तो उनकी व्यापकता ही कट जाय। जब भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं तो अनेक रूपोंमें अनुगत एक भगवान् सिद्ध होता है। यदि यह मान लें कि वे काले हैं या गोरे, स्त्री हैं या पुरुष, गणेश या सूर्य —इस तरह उन्हें एक रूपवाला ही मान लें तो भगवान्की पूर्णता बाधित हो जायगी। जब अनेक रूप मानते हैं तो अनेक रूपोंमें किसी एक अधिष्ठान, प्रकाशक रूपको मानना ही पड़ेगा। अनेकता ही भगवान्की एकता सिद्ध करती है।

अब ज़रा समाजकी बात देखें। संस्कृतमें आमके लिए 'चूत' शब्द है। च्युत होने, पककर वृक्षसे धरतीपर टपक पड़नेके कारण इसका नाम 'चूत' है। वह बेचारा अपने वंशसे, अपने मूलसे, अपने वृक्ष, अपनी डालीसे विच्छिन्न होकर धरतीपर गिर पड़ा और भगवान्ने उसे उठा लिया, धारण कर लिया !

यह ईश्वरकी एक विशेषता है। कट्टर धर्मात्मा लोग इसे नहीं समझ सकते। यदि गिरे हुएको उठाकर भगवान् अपने हृदयसे नहीं लगा सकता तो दुनियामें उनका और कौन होगा ?

आश्रितजनदोषोपेक्षकत्वं शरण्यलक्षणम्—यह है वेदान्तदेशिकका मत। वे कहते हैं कि अपने आश्रितजनके दोषकी उपेक्षा कर देना, शरणागतवत्सलका लक्षण है। 'अपने आश्रितजनके दोषको भोग्य बना लेना, उसे अपनी रुचिका साधन बना लेना'—आश्रितजनदोषभोग्यत्वापादनम् – यह लोकाचार्यका मत है। शरण उसकी लेनी चाहिए जो अपने आश्रितके दोषको केवल अनदेखा न करे, अपितु उसका मज़ा भी ले।

साहिब होत सरोष सेवकके अपराध सुनि।
अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धरे॥

आश्रितजनके दोषकी उपेक्षाकी अपेक्षा उसे भोग्य बना लेना उससे भी श्रेष्ठतर है। भगवान् 'प्रवाल' यानी बच्चे, मूर्ख; बालकोंको भी अपनाते हैं, गिरे हुओंको भी अपनाते हैं। हमें ऐसा ईश्वर चाहिए जो कंसकी नाइन—उसके शरीरमें चन्दन, अङ्गराग लगानेवालीके, सैरन्ध्री, कुब्जा जैसोंके घर जाकर उन्हें अपनाये। हमें ऐसा ईश्वर चाहिए, जो नीचसे नीचको भी अपना बना ले। यदि हमारे धर्ममें इसके लिए गुंजाइश नहीं तो वह छोटा होता जायगा। 'प्रवाल' यानी अनजान बच्चे। विद्वानोंके साथ नहीं, अनजान बच्चोंके साथ खेलना !

बर्हस्तबक। यह 'बर्ह' शब्द है संस्कृतका, पर बोलनेमें 'बरह' हो जाता है : चूतप्रवालबरहस्तबकोत्पलाब्ज। वसन्ततिलका छन्दके अनुरोधसे 'र्' को पूरा पढ़ना पड़ता है। 'बर्ह' यानी मोरका एक गिरा एक अङ्ग, उसे भी अपना आभूषण बनानेवाला भगवान् !

वह कहता है : निराश न हो, उदास न हो यह मत समझो कि हमें भगवान् नहीं मिलेंगे। मिलेंगे, जरूर मिलेंगे। वे हमारे आत्मा हैं, हमारे हृदयमें पहलेसे बैठे हैं। तुम्हारे ऊपर परम अनुग्रह ग्रहिल हैं; अनुग्रहके ग्रहसे ग्रसित हैं। उनके ऊपर अनुग्रहका ग्रह ऐसा सवार रहता है कि वे मुर्देमें भी जान डाल दें। मयूर-पिच्छको भी अपने शिरोभूषणके स्थानपर रख लें। यह पक्षी बेचारा देखनेमें तो सुन्दर लगता है, पर इसकी आवाज़ अच्छी नहीं है। पतले-पतले पाँव, बड़ी कर्कश आवाज़ और साँपोंका भोजन!

जब ते हरि भये पक्षधर तब तें कहें सब मोर।

भगवान् जबसे उसके पक्षधर बने तभीसे लोग उसे 'मोर' यानी मेरा कहने लगे।

'उत्पल' यानी जवान, युवा, ताज़े-ताज़े। युवावर्गकी कभी उपेक्षा न करो। जो धर्म केवल बुड्ढोंको आकृष्ट करता है उसकी आयु भी उन बूढ़ोंके साथ समाप्त हो जायगी। धर्म जवानोंको आकृष्ट करनेवाला हो। युवापीढ़ी भी उसे स्वीकार करे, साथ ही अब्ज भी यानी वृद्ध लोग भी उसे स्वीकार करें।

यह हैं भगवान्के परिधानकी बात। इन सबको अपने शरीरसे सम्पृक्तकर वे अपनी वेषभूषा बनाते हैं। ये सब भगवान्के आभूषण हैं। ऐसे हैं श्याम-राम!

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्याम्। देवताओं या ऋषि-मुनियोंकी सभामें सभापति होना अलग बात है। गाँवकी जनता-का सभापति होनेमें ही विशेषता है। उसे लोकप्रिय होना चाहिए। बहुत लोगोंके ईश्वर तो ऐसे हैं जिन्हें कभी किसीने, उसके

माननेवालोंके बाप-दादा और परदादा तकने नहीं देखा कि वह कैसा होता है।

लेय खसमको नाम, खसम सों परिचय नाहिं।

अपने पतिका नाम तो लेती है, पर उससे कोई परिचय, जान-पहचान नहीं है। हम जिस ईश्वरका दर्शन करते हैं, वह ग्वालोंकी सभामें बैठा है। चरवाहोंकी सभामें आकर बैठता है। क्या वहाँ आनेसे उसकी शोभा कुछ कम हो गयी? नहीं, अरे जिससे बड़ी और कोई शोभा नहीं हो सकती वह अनन्त, अपार, निरुत्तर, निरुपम, निरतिशय शोभासे युक्त होकर विराजमान है।

रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ। कैसी शोभा है? जैसी रंगमंचपर नटवरकी। नटमें अभिनय होता है। यह परब्रह्म परमात्मा अभिनय कर रहा है, नृत्य कर रहा है, बाजे बजाता है, गाना गाता है, क्योंकि यह नटवर है। सच पूछो तो जगत्के नाट्यका यही सूत्रधार है। सम्पूर्ण जगत् इसी नटका नाटक है। इसमें वैराग्यकी भी गुंजाइश है और प्रेमपूर्वक दर्शनकी भी। नाटक यानी 'न अटक'। इसमें अटक मत, क्योंकि यह नाटक है। नटसे प्रेम करो, नाट्यसे नहीं, उसके नाट्यका रस लो। जैसे उस्ताद और शार्गिद दोनों लड़ते हैं वैसे कभी राम उस्ताद होते हैं तो श्याम शार्गिद; कभी श्याम उस्ताद होते हैं तो राम शार्गिद।

क्व च गायमानौ। यहाँ बोलना चाहिए 'गायन्तौ', क्योंकि 'गै' धातु परस्मैपदी है। भागवतमें पाणिनिके सभी नियम लागू नहीं होते। **गाये=गाने मानो ययोः तौ गायमानौ।** ललकारते हैं कि 'आओ, है कोई तुम लोगोंमें हमारे स्वरमें स्वर मिलानेवाला? है कोई हमारे संगीतके साथ ताल मिलानेवाला?' सब शान्त!

जो हस्ततलसे निकले, वह होता है 'ताल'। मैंने एकबार देखा—कहीं ओंकारनाथ ठाकुर गा रहे थे। तबलचीने जरा हुनर दिखाया, तो उनको गुस्सा आ गया। भरी सभामें कह दिया : 'अच्छा चलो।' और ऐसा स्वर निकाला कि तबलचीके दोनों हाथ थक गये। संगीतमें भी मान होता है। ऐसा संगीत दुनियामें कोई गा ही नहीं सकता। गोष्ठी जम गयी, बांसुरी बज गयी। संगीत भी है, वाद्य भी है, अभिनय भी है, नृत्य भी है ऐसा परमेश्वर—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

(ईशा० ५)

वह कभी ठुड्डी हिलाता है, कभी आँख हिलाता है, कभी भौंहें हिलाता हैं। शङ्कराचार्यने 'सोपाधिकरूपसे कंपनशील है' ऐसा कहा है। उपाधि तो ग्वाल हैं।

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्लदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥ ९॥

गोपियोंने यह वंशी-ध्वनि सुनी तो कोई गोपी कहती है "हाय री ! मैं न भयी ग्वाल, न भयी आमकी पत्ती, न भयी मयूरकी पूंछ, और न भयी पीताम्बर ! नहीं तो जाकर अपने प्यारेके अङ्ग-अङ्गसे लिपट जाती। कहीं बाँसुरी बन जाती तो प्यारेका अधरामृत पीती।" यद् धराऽमृतं न भवति तत् अधराऽमृतम्—यह धरतीका अमृत नहीं है। शीशीमें या घड़ा भरकर रखनेका अमृत नहीं है। इसे आप रख नहीं सकते। यह तो जब साक्षात् अपरोक्ष मिलेगा तब मिलेगा। यह अधराऽमृत है, अलौकिक है।

यस्तु प्रकृत्याऽश्मसमान एव। यानी जो स्वभावतः पत्थरके समान कठोर है, अथवा क्लिष्ट व्याकरणशास्त्र पढ़कर जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है : कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः, तर्क करते-करते जो जल चुका है : तर्केण दग्धोऽनलधूमितो वा—उसके लिए यह अर्थ नहीं, यह रस नहीं है। जिनको पञ्चभूत भूत ही दीखते हैं, जिन्हें सब माया ही माया दीखती है, उनके बसकी यह बात नहीं। जिन्हें सब ब्रह्म ही दीखता है, उनकी बात करते हैं। यह बात केवल व्यतिरेकवादी वेदान्तियोंके बसकी नहीं। 'व्यतिरेक'-के अनन्तर जिसे 'अन्वय' हो गया है, केवल यही बोध नहीं कि 'प्रपञ्चादतिरिक्तं ब्रह्म'—यानी प्रपञ्चसे अतिरिक्त ब्रह्म है, बल्कि यह बोध हो गया है कि ब्रह्मैव सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म यानी यह सब ब्रह्म ही है, उनकी बात करते हैं।

'गोपी' उसे कहते हैं जो इन्द्रियों द्वारा भगवद्रसका पान करे : 'गोभिः पीयते' (पीङ् पाने)। भावसे भगवद्रसका पान करना अलग है और ज्ञानसे भगवद्रसका पान अलग। जो इन्द्रियोंसे भगवद्-रसका पान करे, उसका नाम गोपी है। वह कहती है : 'अरी प्यारी गोपी, आ बहन ! यह देखो श्याम ! क्या बात है कि

किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः।

'अयं वेणुः किं कुशलं आचरत् स्म—इस बाँसने क्या पुण्य किया है ? यदि मालूम पड़ जाय कि इसने अमुक पुण्य किया है तो वही पुण्य हम भी करें।' यह भोलीभाली है, मुग्धा गोपी है।

दूसरीने कहा : अयं वेणुः किं कुशलम् आचरत् स्म—इसने क्या कोई पुण्य किया है ? राम-राम ! पुण्यसे इसका क्या वास्ता ? पुण्य करती तो बाँस क्यों होती ?

तब श्रीकृष्णका अधरामृत किसको मिलता है ? अरे भाई, भगवद्-रसकी प्राप्ति कर्मका फल नहीं है। सब लोग इसे नहीं जानते, धार्मिक लोग नहीं जानते। श्रीकृष्ण-प्रेमरसकी प्राप्तिका एक ही मूल्य है—उसके लिए ललक जाओ, मचल जाओ, तरस जाओ, व्याकुल हो जाओ। यह जो तुम्हारे हृदयकी ललक है, यह जो मचलना है, वही मूल्य है श्रीकृष्ण-प्रेमका। यह कोटि-कोटि जन्मके पुण्योंका, तुम्हारे पौरुषका फल संभव नहीं है। तुम्हारे प्रेममें ही उसकी अभिव्यक्तिका स्थान है :

तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते।

(पद्यावली, १४)

आखिर वेणुने ऐसा कौन-सा सद्भाग्य प्राप्त किया ? बोली : 'देखती हो हमारी आँखके सामने ही—**दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्**—यह जो दामोदरकी अधर-सुधा है, उसपर हम गोपियोंका स्वत्व है। यह रहती तो है दामोदरके अधरोंपर, लेकिन मिल्कियत है हम गोपियोंकी।'

कैसे ? अरे भाई, कोई चीज़ किसीके पास है, इसीसे वह उसकी नहीं हो जाती। यहाँ कब्जेकी नहीं, उपभोगकी प्रधानता है। क्या कभी श्रीकृष्ण अपनी अधर-सुधाका स्वयं पान कर सकते हैं ? रखते तो भले हैं, पर क्या अपनी जीभसे अपना होंठ चाटेंगे ? वे ट्रस्टी तो हैं अधर-सुधाके, पर ट्रस्टकी सम्पदाका अपने काममें उपयोग नहीं कर सकते, उससे लाभ नहीं उठा सकते।

तो मालिक कौन है ? गोपियोंने कहा : 'मालिक तो हम हैं, अधर-सुधा तो हमारी है। और देखो 'दामोदर' भी हैं। 'दामोदर'

का अर्थ होता है जिसके उदरमें रस्सी बँधी हो। दाम यानी रस्सी। भगवान्‌की कमरमें प्रेमकी रस्सी बँधी हुई है।

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे॥
(चाणक्यनीतिसार १५.१७)

बन्धनके लिए रस्सियाँ तो बहुत हैं, पर प्रेमकी रस्सीका बन्धन बिल्कुल निराला है। भौंरा सूखे काठमें छेद कर देता है, पर कमलकी कोमल पंखुड़ियोंमें बन्दी हो जाता है। यह प्रेमका बन्धन है। तो, श्रीकृष्ण प्रेमकी रस्सीसे बँधे हैं। यशोदा मैयाने रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया। इसीलिए उनका नाम 'दामोदर' पड़ा।

बस, भाई! भगवान् ऐसा चाहिए जिसपर हमारा भी कुछ हक्क हो, हमारा कुछ कहा माने, कुछ सुने, हमारे साथ कुछ चले। उसीकी नातेदारी हमेशा चढ़ बैठे, ऐसा भगवान् किस कामका? हमें तो ऐसा भगवान् चाहिए जो सर्वसुलभ और प्रेमपूर्ण हो।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥
(रामचरितमानस, सु० का० १४.६)

मन भगवान्‌का और रहता है जानकीजीके पास। जिसके पास रहेगा, वही तो नचायेगा?

तो, ये हैं प्रेमके बन्दी! इनकी जितनी चीज़ें हैं, सभी बन्दी बनानेवालोंकी हैं। किन्तु चीज हमारी और पिये बाँसुरी—बांसुरी ही नहीं, बांस! और भी देखो, इसका सौभाग्य! भुङ्क्ते स्वयम्।

स्वयं उपभोग कर रही है। ज़बरदस्ती जाकर उनके अधरोंसे लग बैठी है :

यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः।

और प्रीति भी कितनी है ? थोड़ी नहीं, बहुत। पहले अवशिष्टको 'वशिष्ट' बना दिया—भागुरिके मतानुसार। फिर नञ्-समास कर दिया : न वशिष्टं रसं यथा स्यात्तथा। अरे, यह तो इतना अधरामृत पी रही है कि पेट भरता ही नहीं। दुनियाको बाँटती जाती है और खुद पीती जाती है। लगता है कि श्रीकृष्णके, दामोदरके अधरोंमें तनिक रस नहीं छोड़ेगी, सारा पी जायगी।

तो, वे बोलीं : 'आओ गोपियो, इसको चुरा लें। अयं वेणुः गोप्यः—यह वेणु छिपाने, चुरानेयोग्य ही है; क्योंकि इसने कोई पुण्य-कर्म तो किया ही नहीं। स्वयं हमारे हककी वस्तु दामोदरकी अधरसुधा भी हमारे सामने पिये जाती है। देखो इसके वंशका सौभाग्य !

ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचः। ह्रदिनी कहते हैं तलैयाको। वह कहती है : 'हमने ही सींच-सींचकर इस बाँसको पाला। हमारे वंशकी यह देवी बांसुरी इतनी भाग्यवती निकली कि दामोदरका अधरा-मृत पान कर रही है। इससे ह्रदिनियोंको इतना सुख हो रहा है कि कमलोंके बहाने वे खिल रही हैं, उन्हें रोमांच हो रहा है।

तरवो यथार्थाः। ये तरु यथार्थं हो गये, तर गये, मुक्त हो गये। तरन्ति इति तरवः। यानी तरु-शब्दका अर्थ ही है, जो पानीमें तैर जाय। पानीमें रहनेपर लकड़ी तैरने लगती है। जो भवसागरसे तैर जाते हैं, वे मुक्त महात्मा भी 'तरु' हैं। जब वे देखते हैं कि हमारी बेटी वंशीको अधरामृत मिल रहा है, तो उनको अभिमान

हो उठता है। वे कहते हैं : 'बांसकी बेटी, सो हम तरुओंकी बेटी। हमारी बेटी श्रीकृष्णका अधरामृत पी रही है!' और ह्लदिनियाँ कहती हैं : 'हम जिसकी धाय रही हैं, जिसे पानी पिलाती रही हैं, वह बेटी श्रीकृष्णका अधरामृत पी रही है।' इस तरह ह्लदिनियां कमल-वनके बहाने खिल रही हैं और मुक्त तरुओंको अश्रुपात हो रहा है, सात्त्विक आनन्द आ रहा है।

तो देखो, पहले श्लोकमें गायोंको वनमें प्रवेश करा रहे हैं और दूसरेमें कुछ आगे बढ़े—गौएं चरने लगीं, तब गोष्ठीका वर्णन है। तीसरेमें ह्लदिनियोंके रोमांच और वृक्षोंके अश्रुपातका वर्णन है और वंशी-वादन हो रहा है। अब आओ, वृन्दावनमें थोड़ा और गहराईमें प्रवेश करें। गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ-साथ वृन्दावन-की गहनतामें प्रवेश कर रही हैं :

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

भूदेवीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा है यह वृन्दावन। वैकुण्ठ-में तो इनकी पूछ ही नहीं है। वहाँ श्रीदेवीका ही साम्राज्य है। भूदेवीकी कीर्ति बढ़ी तो वृन्दावनसे ही बढ़ी : यद् देवकीसुत-पदाम्बुजलब्धलक्ष्मि। देवकी-सुतके पदाम्बुजसे जहाँ-जहाँ पृथ्वीका स्पर्श होता है, वहाँ-वहाँ लक्ष्मीजी आकर धरतीपर लोट जाती हैं, क्योंकि भगवान्‌के चरणोंमें लक्ष्मीका निवास है। लक्ष्मीका निवास 'ब्लैक'में या चतुराईमें नहीं होता। अन्यायसे जो लक्ष्मी आती है वह तो अपहृता लक्ष्मी है। सच्ची लक्ष्मी तो भगवद्भक्ति है। जहाँ भगवान्‌के चरणारविन्द हैं, वहाँ लक्ष्मीका नित्य-निवास है।

तो, भूदेवीकी सौत लक्ष्मीदेवी धरतीपर आ जाय और उसकी रजमें लोट-पोट करे, यह सौभाग्य वृन्दावनने दिया। प्रश्न होता है कि वृन्दावनमें ऐसा कौन-सा धर्म है, जिसके पालनसे वहाँके चप्पे-चप्पेमें लक्ष्मी लोट-पोट करती हैं? मनुस्मृतिका धर्म है या पाराशर-स्मृतिका? तो कहते हैं: **गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूर-नृत्यम्।** गोविन्दवेणु-मनु यह नपुंसकपद है। **गोविन्दवेणुरेव मनुर्यस्मिन् तद् वृन्दावनं गोविन्दवेणुमनु।**

यहाँ श्रीकृष्णको बांसुरी ही मनु है, धर्माचार्य है। वह घरकी गोप-गोपियोंसे कहती है कि अब तुम सो जाओ, यही तुम्हारा धर्म है। बेहोश करके सास-ससुर, पति-भाई, ननद सबको सुला देती है। फिर कहती है: 'गोपियो, अब तुम जाग जाओ तो गोपियाँ तुरन्त अपने धर्मका पालन करनेके लिए जाग जाती हैं। वृक्षसे कहती है: 'फलो, मधु क्षरण करो' तो वृक्ष फलता है, मधु क्षरण करता है। नदीसे कहती है कि 'रुक जाओ!' तो नदी रुक जाती है। कमलसे कहती है कि 'खिल जाओ!' तो खिल जाते हैं। इसी तरह तत्काल आदेश देती है 'गोविन्द-वेणु', भगवान्‌की वेणु ही है वृन्दावनमें मनु।' ऐसा है यह वृन्दावन!

विरहकी दो दशाएं होती हैं: एक मिलनके पूर्व की और एक मिलनके पश्चात् की। मिलनके पूर्वके विरहको 'अयोग' कहते हैं। उसमें जो हृदयमें व्याकुलता ओर उत्कण्ठाका उदय होता है वह हृदयको भगवदाकार कर देता है। प्रश्न है कि किससे मिलनेकी इच्छा है? यदि तुम्हारे मनमें चाह हो कि चाहे कोई भी मिल जाय, तो हृदयमें कोई आकार नहीं बन सकता। जब निश्चित हो जाय कि अमुकसे मिलना है, तभी हृदयमें उसका आकार बन पाता है। तो, हृदयको भगवदाकार बनानेके लिए व्याकुलताका उदय होना चाहिए। भगवदाकारका अर्थ है—हमारा दिल दिल

न रहे, कृष्ण बन जाय, हमारा प्रियतम हो जाय। फिर उसकी कथा-वार्ता अच्छी लगेगी। यह कोई मनोरंजन नहीं है, अपने हृदयको भगवान्की शक्लमें बदलनेकी रीति है। एक मनोवैज्ञानिक, रासायनिक प्रक्रिया है जिससे तुम्हारा दिल बदलती हुई शक्लोंमें न रहे, भगवान्की शक्लमें हो जाय।

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

गोकुल वात्सल्य-रसकी लीलाभूमि है। नन्दगाँव सख्यरसकी लीलाभूमि है तो वृन्दावन कामरस, शृंगार-रस, मधुर-रसकी लीलाभूमि है। ईश्वर अनन्त, अचिन्त्य कल्याणोंका खज़ाना है, परमदयालु है, शक्तिशाली है, सुन्दर है, सब कुछ है; परन्तु यदि उससे मिलनेकी इच्छा तुम्हारे मनमें उदित नहीं हुई—यह जानकर भी कि ईश्वर इतना बढ़िया है, उससे प्रेम करनेकी इच्छा नहीं जगी तो वह जानना किस कामका ?

प्रणयपटुपिपासापीडितानद्य प्राणान्
कथमपि कथयाऽहं हा कथं सान्त्वयामि।
असहनिजविकुण्ठाः कण्ठमुत्कण्ठयाऽऽप्ता-
ननु तव मुखमिन्दुं द्रष्टुमेते त्वरन्ति॥
(रामनारायण शास्त्री, सम्पादक 'कल्याण'-विरचित)

अर्थात् 'प्रेमकी तीव्र प्यास हमारे प्राणोंको सता रही है। तुम्हारी कथा-वार्ता, चर्चा कर किसी तरह हम अपने प्राणोंको सान्त्वना देते हैं। अब ये सांस साँसत-पीड़ा नहीं सह सकते। उत्कण्ठासे कण्ठमें आये ये प्राण तुम्हारे मुखचन्द्रका दर्शन करनेके लिए व्याकुल हो रहे हैं।'

कोई प्रेमरसका आस्वादन करना चाहे और उसके हृदयमें

तीव्र पिपासा न हो, तो भगवद्-रसका आस्वादन नहीं होगा। यह वृन्दावन, तुलसीके वृक्षोंका वन, अनुरागका वन है। तुलसी इतनी अनुरागवती थी कि उसके लिए विष्णुने अपने विष्णुत्वका भी परित्यागकर शालिग्राम होना स्वीकार किया—

आठ पहर चौसठों घड़ी ठाकुरपर ठकुराइन चढ़ी।

जिसके लिए विष्णुने अपना विष्णुत्व छोड़ दिया, चेतनत्व छोड़ दिया, व्यापकत्व छोड़ दिया और गोलमटोल पत्थर बनकर तुलसी-जीको अपने नज़दीक, बग़ल-बग़ल ऊपर-नीचे रखा, विष्णुने कह दिया कि 'हम तुलसीके बिना भोजन ही नहीं करेंगे', इसी तुलसीका एक नाम 'वृन्दा' है।

तो, जहाँ विष्णु स्वधर्मका त्यागकर तुलसीसे प्रेम करते हैं वहाँ यदि गोपी भी स्वधर्मका परित्यागकर श्रीकृष्णसे प्रेम करे तो क्या हर्ज है? इसका नाम है वृन्दावन।

आप मोटर चलाते हैं, परन्तु आपको मोटरका ब्रेक ठीक है या नहीं, पैट्रोल है या नहीं, यह सब देखते हैं। जीवनमें उच्छृंखल आचरण रोकनेके लिए जो ब्रेक है, वही धर्मात्माके जीवनमें धर्म है। धर्म ब्रेक है वारक है, उच्छृंखल आचरण करनेसे निवारण करनेवाला है। फिर भी भक्तोंके जीवनमें धर्मकी आवश्यकता अधिक नहीं होती। आवश्यकता होती है भगवान्की बाँसुरीकी। वह मनको ऐसा अपनी ओर खींच लेती है कि कृष्णरसके सिवा और किसीमें रुचि ही नहीं होती। इस तरह जब जीवनमें उच्छृंखलता आयेगी ही नहीं तो दुराचरणमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

तो, मनको रोकनेके लिए ब्रेककी क्या जरूरत है? उसे तो वेणुने ही पकड़ रखा है, बाँध-खींच रखा है। श्रीकृष्णको छोड़कर

कौन बुराइयोंकी ओर जाय, देखे ? इसलिए वृन्दावन, तुलसीवन, राधारानीका वन और साधुवृन्दकी रक्षा करनेवाला वन, जिसमें प्रियतम रमण करें उसीको जब वह देखता है !

सखि। जो साथ-साथ खाये, वह सखी होती है। जिसकी ख्याति समान हो और खान-पान भी समान हो, वह सखी।

एकक्रियो भवेन्मित्रं समप्राणः सखा स्मृतः।

एक काममें दो व्यक्ति एक उद्देश्यसे लगे हों तो 'मित्र' हो जाते हैं और जिनका जीवन-मरण एक साथ हो, वे 'सखा' होते हैं। इन्द्रियाँ एक साथ, हृदय एक साथ, भोजन एक साथ, जीवन एक साथ, नाम एक साथ है तो वे सखा हैं। जो मेरे प्राण हैं वह तुम्हारे प्राण हैं—समप्राण। हमारे प्राण श्रीकृष्ण हैं और तुम्हारे प्राण भी श्रीकृष्ण। इसलिए तुम हमारे सखा हो।

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्। वैकुण्ठकी अपेक्षा पृथ्वीकी कीर्तिका अधिक विस्तार कर सकती है वृन्दावनकी भूमि। प्रश्न होगा कि वैकुण्ठ बड़ा या भक्ति ? तो उत्तर है : भक्ति बड़ी। असलमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिए वैकुण्ठ जाना ईश्वरकी बहुत बड़ी अवहेलना है। अगर ईश्वर है तो यहाँ भी है, हमारी दुनियामें भी है। उसके लिए मरकर वैकुण्ठमें जाना और यहाँ न देखकर वहाँ खोजना, इन्तज़ार करना बुद्धिमत्ता नहीं। वह तो धरतीपर रहता है और वैकुण्ठकी अपेक्षा पृथ्वीकी कीर्तिका अधिक विस्तार करता है। क्यों ?

देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि। वैकुण्ठमें लक्ष्मीजी रहती हैं भगवान्‌के साथ और यहाँ रहती हैं उनके चरणकमलोंमें छिपकर। जहाँ-जहाँ भगवान् पांव रखते हैं, वहीं-वहीं लक्ष्मीकी मोहर

लग जाती है। वृन्दावनके एक-एक चप्पेपर लक्ष्मीकी मोहर लगी है। हम आज भी विश्वास दिला सकते हैं कि आप वृन्दावनके किसी वृक्षकी शरण ले लें कि हम इसी वृक्षके नीचे बैठेंगे, तो वह वृक्ष कल्पतरु हो जायगा। उस वृक्षसे लक्ष्मी निकल आयेगी। आपको खान-पान, परिधानकी कभी कमी नहीं होगी। वह लक्ष्मी आपको भोजन, वस्त्र, पानी सब कुछ देगी। वह वृक्ष आपकी जीविकाका निर्वाह करेगा। तो, आओ वृन्दावनका एक दर्शन करें। अरे भाई! जैसे कभी-कभी छुट्टीके दिन 'पिकनिक' मना आते हो, वैसे चौबीस घण्टोंमें घण्टेभर ज़रा वृन्दावनकी पिकनिक मनाओ। देखो यह वृन्दावन क्या है?

गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यम्। श्यामसुन्दर गिरिराज गोवर्धनकी शिलापर खड़े होकर बाँसुरी बजा रहे हैं और उस बाँसुरीके तालपर मतवाला होकर मयूर नाच रहा है। और **प्रेक्ष्याद्रि सानु** पर्वतकी चोटियाँ दर्शनीय हैं। अथवा—**मत्तमयूरनृत्यम् प्रेक्ष्य अद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्।** यानी गिरिराजकी तलहटीमें जितने प्राणी हैं, सबके सब शान्त हो गये हैं। केवल दो ही बातें हैं वृन्दावनमें—एक तो मोरमुकुटवाले पीताम्बरधारी मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए बांसुरी बजा रहे हैं, दूसरे बांसुरीके तालपर मयूर नाचता है। वहांके और सब प्राणी मौन हो रहे हैं। शान्तिका साम्राज्य है। अगर वहाँ कोई हलचल है तो दो ही—श्यामसुन्दरकी बांसुरीकी और मयूरके नृत्यकी।

अपरतान्यसमस्तसत्त्वम्। समस्त प्राणी वहां शान्त हैं, यह वृन्दावनका ध्यान है। योगकी भाषामें इसे 'ध्यानमिश्रित धारणा' कहते हैं। यह सद्विचार 'समापत्ति'का अंग होता है। और भक्तिकी भाषामें 'अप्राकृत है वृन्दावन, अप्राकृत हैं श्रीकृष्ण, अप्राकृत है वंशीध्वनि और अप्राकृत है मयूर।' बस, आप इतना

ही देखें कि श्रीकृष्ण बांसुरी बजा रहे हैं और मोर नाच रहा है, बाकी सब शान्त ही शान्त हैं। यह वृन्दावनका दर्शन है।

गोविन्दवेणुमनु इस श्लोकांशका यह सीधा अर्थ है। पहले जो अर्थ किया था, वह जरा टेढ़ा था। गोविन्दवेणुम् अनु मत्तमयूर-नृत्यम् यह सीधा अर्थ है। गोविन्दवेणुमनुम्, अत्र मयूरनृत्यम्, प्रेक्ष्य अद्रिसानु, अपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ये सब वृन्दावनम् के विशेषण हैं। वहाँ सबको मनुस्मृतिका धर्म नहीं, गोविन्दकी बाँसुरी नियन्त्रित करती है। इतना रस देती है कि और सब रस फीके पड़ जाते हैं।

एक सज्जनने पूछा कि 'महाराज! हमारी जवान लड़की एक लड़केके प्रति आकृष्ट हो गयी है, उसे उससे कैसे हटायें?' मैंने कहा: "उसे समझानेका एक ही तरीका है कि जिसके प्रति वह आकृष्ट है, उससे कोई उत्तम वर, उत्तम पुरुष उसके सामने ले आयें। हम उसकी विशेषता उसे बतायें कि 'देखो इसमें यह खूबी है, यह खूबी है।' इससे हम उसका पहले स्थानपर जो मन गया है, उसे वहाँसे इधर मोड़ सकते हैं। लेकिन जब तुम दूसरा वर नहीं देते, दूसरा उत्तम पदार्थ उसके सामने नहीं रखते तो पहले आकर्षणके स्थानसे हम उसका मन कैसे हटा सकते हैं?" तो, दुनियामें आता है रस, संसारमें आता है रस। यदि इससे बढ़िया रस नहीं मिलेगा तो संसारका रस कैसे छूटेगा?

जो मोहि राम लागते मीठे!
तौ नवरस षट्रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

(वि० प०, १६९)

गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यम्। श्यामसुन्दरकी वंशी बज रही है। वह इतनी मीठी, इतनी मधुर है कि ब्रह्माजीको सृष्टि बनानेका

काम भूल गया। शेषजी मस्त होकर झूमने लगे। गोविन्दवेणु बज रहा है तो बादलोंकी गति रुक गयी। इसे आप कविता न समझें। एकबार अपने मनमें देखें। बाँसुरीमें रसका समुद्र छलक रहा है। आपका मन इस स्वादको छोड़कर संसारका और कोई स्वाद लेने नहीं जायगा।

बोले : किस मन्त्रका जप करें हम भगवान्‌की प्राप्तिके लिए? तो कहा : गोविन्दवेणु-मनु। मनु शब्दका अर्थ मन्त्र भी होता है। मन्त्र उपासकका नियन्त्रण करता है तो प्रेमीका नियन्त्रण 'गोविन्द-वेणु' करती है। यही उसका मन्त्र है।

हमारे तो मुरलीवाले श्याम!
और कोउ समुझै सो समुझै, हमको इतनी समुझ भली।
ठाकुर नंदकिशोर हमारे, ठकुराइन वृषभानु लली॥
या साँवरे सों मैंने नेह लगायो।

महाकवि बिल्वमंगलने कहा है कि जब श्यामसुन्दर वनमें आते हैं तो गौएँ जल पीनेके लिए यमुनाकी ओर नहीं जातीं, श्याम-सुन्दरकी ओर जाती हैं। वे कहती हैं कि वह जो साँवरा-सा नीला जमुना-जल है, उसीका कोई अंश यहाँ आ गया है। इसलिए उसे पीनेके लिए गौएं श्रीकृष्णकी ओर दौड़ती हैं। मोर भी आकाश-के बादलोंको देखकर नहीं नाचते। वे कहते हैं कि कोई मेघखण्ड हमारे प्रेमके परवश होकर धरतीपर आ गया है

आजु मैंने देखे गिरधारी। वृन्दावन कुंजन-संचारी॥
बजावे बंशी कुंजनमें।

मेघके समान श्यामसुन्दरके तनपर बिजलीके समान पीताम्बर चमक रहा है। मन्द-मन्द स्वर आ रहा है वंशीसे। इसलिए मोर मस्त होकर नाच रहे हैं।

प्रेक्ष्याद्रिसानु। 'प्रेक्ष्याणि अद्रिसानूनि यस्मिन् तत् प्रेक्ष्याद्रिसानु वृन्दावनम्।' जिसके पर्वतशिखर बहुत सुन्दर हैं, ऐसा वृन्दावन। अद्रि यानी पर्वत और सानु यानी चोटी।

अपरतान्यसमस्तसत्त्वम्। 'अपरते अन्ये रजस्तमसी यस्मात् तत्, अपरतान्यत् समस्तं सत्त्वं यत्र तत् समस्तसत्त्वम्। इसमें रजोगुण और तमोगुण नहीं, सत्त्व ही सत्त्व है—समस्त-सत्त्व है। यह दया आ गयी, यह क्षमा आ गयी, यह प्रेम आ गया—यह विकीर्ण, बिखरा हुआ सत्त्व है, व्यस्त-सत्त्व है। समस्त-सत्त्वका अर्थ है, जैसे समस्त किये हुए पद एक हों, सिमटा हुआ सत्त्व। शान्त सत्त्वका नाम है समस्त-सत्त्व। यहाँ सत्त्वगुण शान्त है, वृत्तियोंके रूपमें फैला नहीं है।

तो, जहाँ रजोगुण-तमोगुण हैं ही नहीं और सत्त्वगुण भी जहाँ शान्त है, जहाँ प्रेम नाच रहा है, गा रहा है (प्रेमका नाचना मयूरका नाचना है और प्रेमका गाना वंशीका गाना है) और साँवरे-सलोने व्रजराजकुमारके रूपमें मूर्त हो रहा है, उसका नाम है वृन्दावन।

आप धरती छोड़कर स्वर्गमें जाना चाहते हैं? ऐश्वर्यको उठाकर फेंक दीजिये हरद्वारमें। यह माधुर्य-भूमि है। यहाँ सोनेका मुकुट उतारकर मोरकी पाँखका मुकुट लगाया जाता है।

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥ ११॥

इन हरिणियोंको देखो, ये अच्छी हैं या ब्रह्मज्ञानी, तुलना कर लो। ब्रह्मज्ञानी वह होता है, जो सर्वज्ञता और अल्पज्ञतामें से

'सर्व' और 'अल्प' दोनोंको ज्ञानाग्निमें भस्म कर दे और 'ज्ञता' को ही पकड़े रहे। तो बताओ कि ब्रह्मज्ञानी अच्छे या मूढ़मति अच्छे ? वृन्दावनकी तो यह बात है कि यहाँ ब्रह्मज्ञानी बड़े नहीं, मूढ़मति बड़े हैं : **मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एताः।** यह 'स्म' अव्यय पद है। यह इनकी धन्यताको, अव्ययताको सूचित करता है। ये हरिणियाँ आज ही धन्य नहीं, शाश्वत धन्य हैं।

हमारे वृन्दावनके भक्त कोकिलसांईं बरसानेके पास गहन वनमें भजन करने बैठे थे। भजन करते-करते रातके एक-दो बज गये। अब वनसे पार कैसे जायँ, रास्ता मालूम नहीं। वे उठकर खड़े हो गये तो सामनेसे एक हरिणी आयी। (हरिणी' का अर्थ है—'हरिं प्रति नयति इति हरिणी' यानी जो हरिको ओर ले जाय)। उन्होंने निश्चय किया कि जिधर यह चलेगी, उधर ही हम चलगे। वे हरिणीके पीछे-पीछे चलने लगे और वह बरसानेतक उन्हें पहुँचाकर भाग गयी।

इसे कहते हैं 'हरिणी'। यह तत्त्वज्ञ नहीं और सर्वज्ञ भी नहीं, यह तो मूढ़मति है। फिर भी वृन्दावनको यह हरिणी धन्य है जो दूसरोंको भी हरिके पास पहुँचा देती है।

या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्। ये नन्दनन्दन आनन्दके ही नन्दन हैं। 'नन्द' शब्दका अर्थ होता है ऐश्वर्यशाली। मूढ़मति कहकर तो बड़े-बड़े बुद्धिमानोंका उपहास किया। हरिणो मूढ़मति है और उसोका भगवान्से प्रेम है। तुम्हारे धर्ममें मूर्खोंके लिए अज्ञानियोंके लिए स्थान है या नहीं ? यदि नहीं तो तुम्हारा धर्म व्यर्थ है। जो गिरेको न उठाये, पतितको आश्वासन न दे, जो नीचको ऊँचा न उठाये वह धर्म क्या कभी टिकनेवाला है ? यह है भक्ति, इसका नाम है भागवत। क्या तुम्हारा धर्म केवल ऐश्वर्य-

शालियोंके लिए ही है ? धनी तो धर्मका पालन कर सकते हैं, पर क्या गरीब धर्मका पालन नहीं कर सकते ?

तो बोले : नहीं, यह नन्दनन्दन होकर भी उपात्तविचित्रवेष है। विचित्र वेष धारण कर ये ग्वाला-चरवाहा बनकर आये हैं। इनके शरीरपर सोनेका आभूषण नहीं, पेड़के पत्ते हैं। कटिमें काछनी है। सोनेका मुकुट नहीं, मोरपंख हैं और बजानेके लिए है बांसकी बंसुरिया। कितना साधारण होकर आया है यह ईश्वर ! जो ईश्वर केवल बड़े-बड़े लोगोंके लिए सुरक्षित हो जाता है, थोड़े दिनों बाद उसका भी लोप हो जाता है और जो ईश्वर सर्वसाधारणके लिए रहता है, वह हमेशा बना रहता है।

उपात्तविचित्रवेषम्। यह नन्दनन्दन, ऐश्वर्य-नन्दन, आज विचित्र वेष धारण कर आया है। अच्छा ठीक है, हम भी सुनें, क्या विशेषता है।

आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः। आपको बुद्धि अच्छी मिली तो भगवद्-ज्ञानसे सफल हो जायगी। आपको शरीर अच्छा मिला तो सच्चरित्रतासे सफल हो जायगा। किन्तु आपको आँखें अच्छी मिलीं तो बिना श्यामसुन्दरके दर्शनके वे सफल नहीं होंगी। आपको बुद्धि, आपका मन, आपका शरीर सफल हो गया, पर ये आँखें क्या दुनियादारी देखनेके लिए मिली हैं। क्या ये कान ऐसी निन्दा-स्तुति सुननेके लिए मिले हैं जिनसे हृदय राग-द्वेषसे कलुषित हो जाय ? नहीं, नहीं, आओ वंशी-ध्वनि सुनो और उस बजानेवालेको देखो।

गोपियाँ कहती हैं कि अरे भाई हमसे अच्छी हैं वे हरिणियाँ, जो वंशीध्वनि सुनकर अपने पति कृष्णसारों (काले मृगों) के साथ श्यामसुन्दरके पास चली जाती हैं। हम गोपी हुईं तो क्या ?

हमारे पति कृष्णसार नहीं हैं—कृष्ण ही उनके लिए सार नहीं हैं। जिनके हृदयमें कृष्ण ही कृष्ण होते हैं, वे हैं कृष्ण-सार। वस्तुतः हमारे हृदयका सार कृष्ण ही है।

तो, हरिणियाँ तो काले-काले हरिणोंके साथ, कृष्णसार मृगोंके साथ पहुँच जाती हैं श्रीकृष्णके पास। अब देखो, आगे क्या बोलती हैं ? वे तो करती हैं कृष्णकी पूजा और लेती हैं कृष्णकी पूजा—इसके दोनों अर्थ हैं। पति भी है और पत्नी भी। हरिण है और हरिणी भी है, दोनों हैं एक साथ। बड़ी-बड़ी आँखें हैं, पर भगवान्‌ने उनकी आँखोंपर झपकनेवाली पलक तो बहुत छोटी बनायी। बड़ी-बड़ी आँखोंसे श्यामसुन्दरको देखते हैं और उनके हृदयका प्रेम उनकी आँखोंके झरोखोंसे झाँकता है।

पूजां दधुर्विरचिताम्—न उन बेचारोंके पास चन्दन है, न हाथ जोड़नेको हाथ ही। माला पहनानेके लिए फूल नहीं, भोग लगानेके लिए नैवेद्य नहीं। फिर भी ये हरिण-दम्पती श्रीकृष्णकी पूजा कर रहे हैं, कैसे ? तो कहा : प्रणयावलोकैः।

आप जरा 'प्रणय' शब्दका अर्थ ध्यानसे देखें। जैसे कहते हैं कि 'हमने ग्रन्थका प्रणयन किया है' तो वहाँ 'प्रणयन' का अर्थ होता है निर्माण। 'निर्मितम्, प्रणीतम्, कृतम्, रचितम्' इन सबका एक ही अर्थ है। जो प्रणयन करे उसे प्रणय कहते हैं : 'प्रणयति इति प्रणयः।' ज्ञान निर्माण नहीं करता, प्रकाशित करता है, जो चीज जैसी है उसको ज्यों-का-त्यों दिखा देता है। परन्तु प्रणय प्रेमका निर्माण करता है।

हम जो सोचते हैं कि सब लोग अक्लमन्द हो जायँ, यह असम्भव है। हमारे पास अलीगढ़का एक प्रोफेसर आया था, उसे हम वेदान्त समझाने लगे। घटाकाश, मठाकाश, महाकाश

समझाते-समझाते तीन घण्टे हो गये, अवच्छेदक, अवच्छिन्न सब समझाया। किसीने जाकर श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा कि ये तीन घण्टेसे बोल रहे हैं। वे अपनी कुटियासे निकले और मौजसे चलकर हमारी कुटियामें आ हमारे ही तख्तपर बैठ गये। बोले : 'बीस बरसमें तुम्हारी समझमें जो बात आयी है, उसे इस बेवकूफको तीन घण्टेमें समझाना चाहते हो ?'

तो, ज्ञान यथार्थको प्रकाशित करता है। परन्तु सब ज्ञानी नहीं हो सकते। वह सर्वथा दुर्लभ है। लेकिन प्रेम तो आपका स्त्रीसे है, पुत्रसे है, धनसे है, शरीरसे है। प्रेम तो आपके हृदयमें है। यदि वही प्रेम सर्वात्मा परमसुन्दर परममृदुल प्रभुसे हो जाय तो वह 'प्रणय' आपके हृदयका प्रणयन कर देगा—निर्माण कर देगा। हृदयके परिवर्तनकी सामर्थ्य प्रणयमें ही है।

अब दूसरी दृष्टिसे देखें। **पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**—विश्व करता है कृष्णकी पूजा और कृष्ण करते हैं विश्वकी पूजा। दोनों परस्पर पूजते हैं : **दोउ चकोर दोउ चन्दा**। दोनों दोनोंके प्रेमी हैं।

तो, **भगवता प्रणयावलोकैः विहितां पूजां स्वस्मिन् दधुः।**—भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि हरिणी और हरिण दोनों आये हैं। वे बड़े प्रेमसे हमारी पूजा कर रहे हैं। तो, भगवान्‌ने भी बड़े प्रेमसे उनकी ओर देखा, उनकी आँखोंसे आँखें मिलायीं और उनके प्रेमका सत्कार किया। हमारी दृष्टि ईश्वरपर हो और सर्वात्मा ईश्वरकी दृष्टि हमारी ओर। वृन्दावनकी हरिणियाँ कृष्णकी पूजा कर रही हैं, तो कृष्ण हरिणियोंकी पूजा कर रहे हैं। गोपियोंको इस बातका दुःख है कि हरिणियाँ तो कृष्णकी पूजा कर सकती हैं, पर हम नहीं।

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्य. ॥ १२ ॥

पहले विचित्र वेषका वर्णन किया था, अब विचित्र गीतका वर्णन करते हैं। क्योंकि हरिणियाँ तो वेषको पाससे देख लेती हैं, पर स्वर्गस्थ देवियोंको वेष नहीं दीखता, पहले स्वर ही सुनायी पड़ता है। तो, श्रीकृष्णका गीत कैसा है? विचित्र, आश्चर्यमय। देवियाँ स्वर्गमें रूठी हुई हैं कि देवता कहीं उन्हें अपने साथ नहीं ले जाते। बस, अपना-अपना काम करके आये, बैठे, अमृत पिया, विश्राम किया और फिर अपनी-अपनी ड्यूटीपर चले गये। वे देवियोंके पास क्षणभर भी बैठते नहीं। इसी समय श्यामसुन्दर-की बाँसुरी बजी, जब वंशीकी ध्वनि स्वर्गमें पहुँची तो देवियोंके चेहरेपर कुछ ललाई, कुछ रौनक आयी, कुछ रस मालूम पड़ा। देवताओंने सोचा: बस-बस, इन्हें मनानेका उपाय मालूम पड़ गया। चलो, विमानपर चढ़कर घुमाने ले चलें वृन्दावनमें। चलो, वहीं बाँसुरी सुनेंगे।

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्। श्रीकृष्णका रूप और शील कैसा है? केवल रूप ही नहीं, शील भी चाहिए। केवल शील ही नहीं, रूप भी चाहिए। मनको खींचनेके लिए शीलमें सद्गुण, सत्त्वगुण और रूपमें सौन्दर्य चाहिए। इसीसे जब भगवान् रामका वर्णन करते हैं तो उनके शील और सौन्दर्य दोनोंका वर्णन करते हैं। इसी तरह श्रीकृष्णका रूप और सौन्दर्य दोनों कृष्ण हैं, आकर्षक हैं, हृदयको कुरेदनेवाले हैं। 'कृष्ण' यानी चुम्बक, चूमनेवाला, खींचनेवाला।

वनितोत्सवरूपशीलम् । 'वनिता' शब्दका अर्थ होता है :

वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति ।
(अमरकोश ३.३.७४)

अर्थात् जिसके हृदयमें खूब-खूब अनुराग पैदा हो गया हो, उस नारीको, उस 'प्रमदा'को 'वनिता' कहते हैं। वनिता-शब्द सबके लिए नहीं चलता, कुमारीके लिए नहीं चलता। वनिता यानी अनुरागवती नायिका। 'वनिता' यानी जो सबको छोड़-छाड़कर वनमें चली गयी हो भगवान्‌की प्राप्तिके लिए—'वनम् इता वनिता।' 'यौवनम् इता'—युवावस्थाको प्राप्त। तो श्रीकृष्णका रूप और शील जो वनमें रहते हैं, उनके लिए भी आनन्ददायी हैं, युवतियोंके लिए भी आनन्ददायकी है, प्रेमियोंके लिए भी आनन्द-दायी है।

देवियाँ विमानपर चढ़ गयीं, यानी मानरहित हो गयीं। फिर तो प्रपंचका एकदम विस्मरण हो गया :

अश्यत्प्रसूनकबराः। फूलको 'प्रसून' कहते हैं, क्योंकि उसके तोड़नेमें हिंसा होती है। परन्तु वह हिंसा भी प्रकृष्ट है; क्योंकि अपने लिए फूल नहीं चुने जाते, अपने प्यारेके लिए चुने जाते हैं। प्रकृष्टा सूना हिंसा यस्य तत् प्रसूनम्। फूल अपने लिए नहीं, भगवान्‌के लिए तोड़ने चाहिए। वे तो टूटकर गिर जाना चाहते हैं। टूटकर गिरेंगे तो मिट्टीमें मिल जायँगे। आप यदि मालीसे लेंगे तो मालीकी जीविका चलेगी और स्वयं चुन-चुनकर प्रभुको चढ़ायेंगे तो आपको अधिक तुष्टि मिलेगी।

'कबर' कहते हैं चोटीको। उनमेंसे फूल गिरने लगे और नीवि=वस्त्रका भी ध्यान नहीं रहा। शरीरका विस्मरण हो गया। वे श्रीकृष्णके प्रेममें तन्मय हो गयीं। आप उपदेशको ही

सब कुछ मानना चाहते हैं ? क्या बच्चे आपके उपदेशको समझेंगे ? मूर्ख लोग आपके उपदेश समझेंगे ? यह रस, यह मिठास तो सबकी समझमें आती है। यह माधुरी बच्चा भी समझता है, मूर्ख भी समझता है, पशु भी समझता है, पक्षी भी समझता है। माधुर्य द्वारा लोगोंके चित्तको नियन्त्रित कर लेना दूसरी बात है और अपनी सर्वज्ञताकी धाक जमाकर लोगोंके चित्तको नियन्त्रित करना या हुक्म देकर, शासन कर, डंडा मारकर उनके चित्तको नियन्त्रित करना दूसरी बात।

कोई अवतार हुआ वेदकी रक्षाके लिए, तो कोई पृथ्वीका उद्धार करने को। कोई समुद्र-मन्थन करने, कोई अमृत-वितरण करने तो कोई धर्म-मर्यादाकी रक्षा-हेतु अवतार हुआ। लेकिन संसारमें शुद्धप्रेमका स्वरूप दिखानेके लिए भगवान् श्रीकृष्णका ही अवतार हुआ है। प्रेमकी शिक्षा स्कूल-कालेजमें नहीं दी जाती। सच पूछें तो सत्संगमें भी उसे बहुत खोलकर नहीं बताया जा सकता। गोपीका प्रेम बहुत शुद्ध है। हम नहीं मानते कि वह केवल लीला या ध्यानके लिए है। आप किसीसे प्रेम कीजिये, पर वैसा ही निःस्वार्थ और वैसा ही सामनेवालेको सुख पहुँचानेके लिए कीजिये। यह प्रेम केवल दिमाग़ी, 'आइडियल', आदर्शवादी या ख़याली नहीं; यह व्यावहारिक प्रेम है जिसे भगवान् श्रीकृष्णने गोपियों द्वारा प्रकट किया है। हम चाहते हैं कि एक पति अपनी पत्नीसे या एक पत्नी अपने पतिसे वैसा ही प्रेम करे।

सुख स्वारथ परिहरि करिहउँ सोइ, जेहि साहिबहिं सुहाऔं।

यदि गोपी-प्रेम संसारमें न आता तो अपना सुख, अपना स्वार्थ छोड़कर प्रेम कैसे किया जाता है, यह कोई समझ ही

न पाता। अपनी साड़ीके लिए या अपने सुख-स्वार्थके लिए प्रेम नहीं किया जाता। सामनेवालेको सुख पहुँचानेके लिए, उसके हितके लिए उससे प्रेम किया जाता है। प्रेमकी शिक्षा तो भगवान् श्रीकृष्णकी लीलासे मिलती है। स्वर्गकी देवी और धरतीपर छलांग भारनेवाली हरिणी दोनों श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। कल ही दोनोंका प्रसग आया था :

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एताः।

ज्ञानियोंपर भी एक छींटा कस दिया कि 'तुम्हारा ज्ञान तुम्हीं-को मुबारक हो। हमें तो वे बेवकूफ़ हरिणियाँ ही प्यारी लगती हैं: और कोउ समुझे सो समुझे, हमको इतनी समुझ भली! हमें हरिणी धन्य लगती है और देवियाँ अभागिनी। क्यों? तो तुलना करके देखो :

पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः।

प्रेमभरी चितवनसे श्यामसुन्दरको देख-देखकर हरिणी और हरिण उनकी पूजा करते हैं। श्रीकृष्ण भी प्रेमभरी चितवनसे बार-बार उन्हें देखकर उनकी पूजा कर रहे हैं। हरिणी होना सफल हो गया। पर देवी? देवीजा विमानपर चढ़कर आयीं।

हमारे पास कई लोग आते और कहते हैं: 'महाराज हम प्लेनसे आये हैं।' यह अपनी तारीफ़ की या जिसके पास आये उसकी? इसमें अहं प्रधान हो गया या दर्शनीय? 'हम प्लेनसे आये हैं!' तो कहना होगा—'भाई! बड़ी कृपा तो की जो आप आये!'

तो, पहले देवियोंने विमानसे आकर स्वर्ग छोड़ा। विमानसे आयीं और श्रीकृष्णको खूब निहारा। 'निरीक्ष्य'=निरीक्षण किया, जैसे कोई इन्स्पेक्टर करता हो। इनका रूप देखा—दोनों कान

बराबर हैं या नहीं, दोनों आँखें बराबर हैं या नहीं, दोनों नाकके छेद ठीक हैं या नहीं, होंठोंका लेवल कैसा है, दांतोंसे चमक निकलती है या नहीं, कपोल चिकने हैं या नहीं—खूब देखा। फिर शील-स्वभाव देखा कि यह प्रेमपरवश हैं या नहीं। फिर उनकी वंशीध्वनि सुनी। स्वर्गमें न कोई गन्धर्व वैसा वाद्य बजाता है, न कोई अप्सरा उस वाद्यके तालपर नाचती है और न कोई देवी-देवताको वैसी राग-रागिनियाँ ही आती हैं।

श्रुत्वा च तत्क्वणित-वेणुविचित्र-गीतम्।

वह संगीत विचित्र था। विमानपर चढ़कर आयी थीं देवियाँ उसे सुनने, पर तीन बातें हो गयीं। कौन-सी? तो सुनिये। पहले तो उनका धैर्य खो गया। 'स्मरनुन्नसाराः' हृदयका सार है धैर्य। जिसके हृदयमें सार, धैर्य नहीं वह बोलने और करनेमें धैर्य धारण नहीं कर सकता। दूसरी बात यह हुई कि वे खूब श्रृंगार करके आयी थीं कि हमें देखकर कृष्ण नाच उठेंगे। सो उनके शरीरका श्रृंगार अपने आप ही छूटकर गिर पड़ा, जूड़ा ढीला हो गया, चोटीसे फूल गिर गये, चू पड़े। तीसरी बात यह हुई कि 'विनीव्यः' कपड़े-लत्ते भी गिर गये, नीवोकी ग्रन्थि भी खुल गयी। इस तरह पहले धैर्य छूटा, फिर श्रृङ्गार और अन्तमें लज्जा भी छूट गयी।

और भी ध्यान दें: श्रीकृष्ण हरिणियोंकी ओर प्रेमसे देखते हैं और हरिणियाँ भी प्रेमसे उनकी ओर देखती हैं। किन्तु मूच्छित हो जानेसे न तो देवियाँ कृष्णको देख सकीं और न कृष्ण देवियों-को देख सके। तब बतायें कि देवियाँ बड़ी या हरिणियाँ?

यह उपर्युक्त श्लोकोंका तुलनात्मक अध्ययन है। श्रीकृष्णको विमानपर चढ़नेवाली देवियाँ प्यारी नहीं। यहाँ ऊँच-नीचका

भेद नहीं, जाति-पाँतिका भेद नहीं। यहाँ न मन्दिर-मस्जिदका भेद रहता है और न पूजा-नमाज़का भेद !

जहाँ ऊँच या नींचका भेद न हो,
जहाँ जात या पाँतकी बात नहीं।
न हो मन्दिर मस्जिद चर्च जहाँ,
न हो पूजा नमाजमें भेद कहीं॥
जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका,
रिझवार[1] सिंगार हो त्याग जहीं।
जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले,
चलो नावको ले चलें खेके वहीं॥

जब हरिणियोंको ही देवियोंसे अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ तो उन गायोंका कहना ही क्या, जिनके बुलानेसे श्यामसुन्दर आये हों। जब-जब मैं दिल्ली आता हूँ, तो एक सज्जन चिट्ठी लिखते हैं कि 'स्वामीजी, आप गायकी महिमापर बोलें।' हम कहते हैं कि गोपालकी लीलासे बढ़कर, श्रीकृष्णकी लीलासे बढ़कर गायकी महिमापर और क्या बोला जा सकता है? हमारा ईश्वर गायकी पुकार सुनकर आता है। गायके गोबरका टीका लगाता है। गोमूत्रमें स्नान करता है। गायके चरणोंकी धूल अपने शरीरपर लगाता है। गायकी पूँछसे अपनी रक्षा करता है। गाय चराता है। गायके लिए दावाग्नि पी लेता है। उसका नाम ही है 'गोपाल !'

गावश्च कृष्णमुखनिर्गत - वेणुगीत-
पीयूषमुत्तभित - कर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥ १३॥

१. रिझानेवाला

गायोंके सामने खूब हरी-हरी घास थी, परन्तु उनके कानोंमें वंशीकी ध्वनि पड़ गयी। बस, कान खड़े हो गये : **उत्तभितकर्ण-पुटैः**। खड़े ही नह हो गये, प्याले भी बन गये : 'कर्णपुटैः'। 'पुट' शब्दका अर्थ है दोना। वे दोने बन गये। व्रजमें प्यालेसे अमृत पीनेकी रीति नहीं है। वहाँ तो कदम्बके वृक्ष स्वयं दोना प्रकट करते हैं। हमारे कदम्बके वृक्षमें दोने होते हैं। उनपर माखनके लोंदे रख लो तो कहीं नहीं गिरेंगे!

तो, गायोंके कान दोने बनकर खड़े हो गये, और **वेणुगीत-पीयूषम्** वेणुध्वनिका अमृत पीने लगे। पी रहो हैं और पा रही हैं : 'पिबन्त्यः'। हमें जब कोई कहता है कि 'कृष्ण हुए थे, तो हमारा दिल दुःख मानता है। 'हुए थे' वाले कृष्ण से तो हमारी ज्यादा दोस्ती नहीं। जो कृष्ण अब हैं, उन्हीं से हमारी दोस्ती है। हम श्रीकृष्णके मित्र हैं और श्रीकृष्ण हमारे मित्र। 'शावाः' यानी बच्चे, बछड़े। उनकी दशा क्या थी? **स्नुतस्तनपयःकवलाः**— कृष्णको देखकर जो गैया-मैयाके हृदयमें वात्सल्य उमड़ता, वह शरीरमें अटता नहीं, थनसे दूध बनकर निकलता है। गायके थनों-से जो दूध गिरता है वह अपने बछड़ेके लिए नहीं, कृष्णके लिए गिर रहा है।

तो, गायके मुँहमें तो रह गयी घास; न उगले, न निगले और बछड़ेके मुँह में रह गया दूध—न पिये, न गिराये! और दोनोंकी स्थिति क्या हुई—**आत्मनि गोविन्दं स्पृशन्त्यः स्पृशन्तश्च** (शावाः के साथ अन्वय करते समय लिंग-परिवर्तन कर लेना चाहिए)। 'दृशा अश्रुकलाः स्पृशन्त्यः स्पृशन्तश्च।' यानी गाय अपने हृदयमें गोविन्दका स्पर्श करतो हैं और आँखों में आँसूका स्पर्श कर रही हैं। बछड़े भी हृदयसे गोविन्दका स्पर्श कर रहे हैं और उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है। यह है वृन्दावनका एक दृश्य—जहाँ

गायके मुँहमें घास है, पर उसका उगलना-निगलना बन्द ! हृदयमें गोविन्द हैं और आँखोंमें आँसू—प्रेमके, आनन्दके आँसू ! वे आँखें तो सूख गयीं जिनमें पानी नहीं आता। शौनकने तो खूब ही फटकारा है :

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदाविकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(भाग० २. ३. २४)

अर्थात् भगवान्का चरित्र सुनकर जिसके हृदयमें द्रवता, आर्द्रता नहीं आती, जिसका दिल नहीं पिघलता, जिसकी आँखें आँसू नहीं बरसतीं; शरीर रोमांचित नहीं हो उठता; उसका हृदय हृदय नहीं, फ़ौलादका टुकड़ा है। अश्मसार यानी फ़ौलाद। इस्पातका टुकड़ा है वह हृदय, जो श्रीकृष्णकी लीला सुनकर घी न बन जाय, शहद न बन जाय, मक्खन न बन जाय ! जिसका शरीर रोमांचित न हो उठे, जिसकी आँखें सजल न हो जायँ उसका जीवन सचमुच व्यर्थ है।

यहाँ तो गायोंको रोमांच है, गायोंकी आँखोंमें आँसू और कान खड़े हैं। उनके हृदयमें श्रीकृष्णका ध्यान है—गोविन्द, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कुराते, प्रेमभरी चितवनसे देखते हैं। आपने गाय कभी देखी है या नहीं ? देखी हो तो आपका ध्यान उसमें जल्दी लग जायगा। गायमें ध्यान लगा लीजिये और फिर उसमें गोविन्दका दर्शन कर लीजिये। 'गोविन्द' शब्दका एक अर्थ यह भी है—गो = वाणी, देववाणी, उससे जो मिले वह। गोविन्दका और भी अर्थ है—गो = इन्द्रिय—आँख, कान, त्वचा आदि, उनसे जो मिले वह। अरे, जो होंठोंसे मिले, छातीसे मिले और जिसकी साँस हमारी

साँससे मिल जाय उसका नाम गोविन्द है : गोविन्दमात्मनि दृशा-श्रुकलाः स्पृशन्त्यः।

ज्ञानसे मोक्ष होता है और प्रेमसे बन्धन। यदि आप मोक्ष चाहते हैं तो इस रास्तेपर मत आइये। जो तलाक चाहता है वह ब्याह ही क्यों करे? उसे प्यार करनेकी जरूरत ही क्या है?

गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठस्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः।

यदि तुम मोक्ष ही चाहते हो प्यारे मित्र! तो इसी केशि-घाटके पास गोविन्दकी जो मूर्त्ति है, उसका दर्शन कभी मत करो। वह मोक्ष देनेवाला नहीं, बाँधनेवाला है, अपने साथ बाँध लेता है।

भागवतमें ब्रह्माके बोधके प्रसंगमें वर्णन है कि ये देवता-ऋषि वृन्दावनमें गाय-बछड़े होकर रहते हैं :

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणाबलोऽवैत् ॥
(भाग० १०.१३.३९)

देवता-ऋषि बार-बार रूप बदलते हैं, पशुओंके, पक्षियोंके रूपमें रहते हैं। इसमें वैदिकोंके प्रति थोड़ा कटाक्ष है जैसे कि 'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एताः'—कहकर ज्ञानियोंके प्रति कटाक्ष है। बिना व्यंग्यके काव्य उत्तम नहीं माना जाता। संस्कृतमें एक ग्रन्थ ही है 'वक्रोक्ति-जीवितम्'। काव्यका जीवन है वक्रोक्ति, उलाहना, छेड़-छाड़, छेड़छाड़ करते हुए बोलना।

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।

आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥ १४ ॥

इस वृन्दावनमें बड़े-बड़े मुनि आकर पक्षी बन गये हैं। 'विहग' का अर्थ पक्षी और सिद्ध दोनों है—'विहायसा गच्छन्ति इति विहगाः'। जो आकाशमें उड़े वह विहग। सब पक्षी सिद्ध हैं, ये सारे बारह वर्ष तपस्या करते हैं, फिर भी इन्हें आकाशमें उड़ना नहीं आता और ये चिड़ियाँ सहज जन्मसे ही उड़ती हैं।

ये मुनि हैं, इसलिए ज्ञानी हैं। जो मनन करे सो मुनि। ऋषि ज्ञानी भी हैं और सिद्ध भी, लेकिन उन्होंने कहा : 'नहीं बाबा, सिद्धि भी एक पक्ष ही है। कोई न्याय-पक्षी होता है, कोई वैशेषिक-पक्षी होता है, कोई सांख्य-पक्षी, कोई योग-पक्षी, कोई मीमांसा-पक्षी, कोई वेदान्त-पक्षी। वेदान्तमें भी द्वैत-पक्षी, अद्वैत-पक्षी, विशिष्टाद्वैत-पक्षी, द्वैताद्वैत-पक्षी, शुद्धाद्वैत-पक्षी, सब पक्षी हैं।' तो उन्होंने कहा : 'हम व्रजमें रहेंगे तो पक्षी होकर उड़ चलेंगे।'

'भई! पक्षी होकर उड़ चलनेमें क्या आनन्द है?'

बोले : 'जहाँ-जहाँ कृष्ण जायँगे वहाँ-वहाँ हम भी उड़ चलेंगे। व्रजमें कोई तो पादप-पेड़ बनकर रहते हैं कि कहीं वृन्दावनसे हम निकाल न दिये जायँ तो कोई-कोई और जो सिद्ध, ज्ञानी हैं, पक्षी बनकर रहते हैं कि हम स्वतः स्वतंत्र रहेंगे और उड़-उड़कर श्रीकृष्णकी लीला देखेंगे। इस तरह इस वनमें प्रायः बड़े-बड़े आकाशचारी, सिद्ध-मुनि पक्षी बनकर रहते हैं। क्या करते हैं?

आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्। वे वेदरूपी वृक्षकी शाखापर बैठ जाते हैं। वेदोंकी भी बहुत-सी शाखाएँ हैं—माध्यन्दिन, काण्व, तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि। चारों वेदोंकी

कुल ग्यारह सौ इकतीस शाखाएँ हैं, जैसे पेड़में बहुत सी टहनियाँ, शाखाएँ होती हैं। ये मुनि लोग पक्षी बनकर क्या करते हैं? जैसे वैदिक एक-एक शाखाका आलम्बन लिये होते हैं वैसे ये भी वृक्षकी एक-एक डालीपर बैठ जाते हैं जहाँ बढ़िया-बढ़िया पल्लव, किसलय लगे होते हैं। वे वहाँ बैठकर क्या करते हैं?

शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः। 'अमीलितदृशः'—योगाभ्यास नहीं करते, आँखें बन्द नहीं करते, ज्ञानशक्तिका लोप नहीं होता, होश-हवासमें जागते, देखते रहते हैं। देवियाँ बेसुध हो जाती हैं, पर ऋषि बेसुध नहीं होते और 'विगतान्यवाचः'—ये तो शब्दब्रह्मसे ऊपर चले गये हैं, चुप हैं, और क्या करते हैं?

कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् शृण्वन्ति। कृष्णकी चितवन सुनते हैं। आपने 'अक्षपाद' का नाम सुना होगा। अक्षपाद यानी जिसका पाँव देखता हो। तो, 'कृष्णेक्षितं शृण्वन्ति' का अर्थ है जिनके कान देखते हों। इनकी आँख खुली है, पर वंशीध्वनिमें ऐसे समा गये हैं कि बोलना बन्द हो गया, आँख खुलीकी खुली रह गयी और वंशीध्वनिमें तन्मय हो गये। कहाँ गया उनका वेद, कहाँ गयी उनकी शाखा, कहाँ गया उनका योग, कहाँ गया उनका ज्ञान! वंशीध्वनिने ऋषियोंको इस तरह अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

इस प्रकार देवियोंकी यह दशा है, हरिणियोंकी यह दशा है, गायोंको यह दशा है, बछड़ोंकी यह दशा है, पक्षी-मुनियोंकी यह दशा है। भक्त वह है जिसकी दृष्टिमें सब भक्त हों। हमारे प्यारेका कोई विरोधी कैसे हो सकता है? इतने आनन्दका, इतने प्रेमका, इतने सुखका कोई विरोधी कैसे हो सकता है? वह भीतर ही भीतर भक्त है। तुलसीदासजीको रावणमें भी भक्ति दीखती थी:

मन महुँ चरन बन्दि सुख माना।

मन ही मन वह जानकीजीके चरणोंकी वन्दना करता है। मारीचमें भी प्रेम दीखता था उन्हें :

अन्तर प्रेम तासु पहचाना।
मुनिदुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

उनकी दृष्टिमें कैकेयी भी बिल्कुल निर्दोष थी :

जननी दोष देहिं जड़ तेई।

जो कैकेयीको दोष देता है वह जड़ है। यह है भक्तकी दृष्टि। हनुमान्‌जी रावणसे बोलते हैं :

जाके बल लवलेस तें जितेउ चराचर झारि।

तुम्हारे अन्दर जो बल है, वह भगवान्‌का ही है।

भक्त वह है जिसे सब जगह भगवान् दीखें या सब जगह भगवान्‌के प्रेमी दीखें। जिसकी नज़र बुराई पकड़ती है उसकी नज़रमें प्रेम-भक्ति कहाँ ? गुबरैलेकी नज़र नहीं, चींटीकी नज़र बनाओ। यह है भक्तकी दृष्टि !

वेदतरोः प्रतिशाखं मृगितं मिलितं न तद् ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम्॥

अर्थात् वेदकी एक-एक डाली ढूँढ़ डाली, ब्रह्म नहीं मिला। कहाँ मिला ? एक ग्वालिनने अपने आँचलके नीचे उसे छिपा रखा था।

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

भक्त कवि कहता है कि 'मेरे श्रेष्ठ उपदेशका आदर करो, क्योंकि आप वेदके जंगलमें भटकते-भटकते थक गये, खिन्न हो गये होगे।'

'तब कहाँ ढूंढ़ें ?'

'गोपियोंके घरोंमें ढूँढ़ो।'

'वहाँ ब्रह्म कहाँ मिलेगा ?'

'उपनिषदोंका परम तात्पर्य वह ब्रह्म वहाँ ऊखलमें बाँधकर रख दिया गया है।'

आह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म।
श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह साम्प्रतं चिनुमः ॥

'कहाँ ढूँढ़ने जा रहे हो लोकमें, वेदमें या ज्ञानमें ? तुम्हें पता नहीं कि गोपियोंने अपनी आँखोंसे चुराकर लूटकर पहलेसे ही उस ब्रह्मको अपनी गोदमें छिपा लिया है ? मिलेगा तो वहाँ मिलेगा।

तो, ये पक्षी बड़े-बड़े ज्ञानी हैं, मुनि हैं, योगी हैं, सिद्ध हैं। वे इस तरह निर्निमेष दृष्टिसे मौन होकर वेदद्रुमकी शाखापर बैठकर पल्लव-पुष्प-फलसे असंग हो परमात्माका दर्शन करें, यह स्वाभाविक है। किन्तु इन जड़ नदियोंको क्या हो गया ?

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १५ ॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य। जिसके हृदयमें प्रेम आता है उसकी वाणीपर कविता नृत्य करने लगती है—जिह्वाकी नोकपर सरस्वती

नाचती है, थिरकती है। नदियाँ अबतक नाद कर रही थीं। उनको चिल्लाना आता था, सुनना नहीं। वे बहते समय गाती थीं, जैसे स्त्रियाँ चलते समय गाती हैं। पुराने समयकी बात कर रहा हूँ। स्त्रियाँ पहले गङ्गास्नान करने जातीं तो—

सोनेकी थालीमें जिमना परोसूँ!

गाती चलती थीं। सोनेकी थालीमें मैं अपने प्यारेके लिए, प्रभुके लिए जीमनवार कराऊँगी। 'जेमन' शब्द संस्कृतका है।

हे गङ्गामैया तोहे पियरी चढ़इबे
सैंयाँ कर दे मिलनवा हमार।

ऐसा-ऐसा गाती स्त्रियाँ चलतीं थीं। तो नदियाँ भी जब चलती हैं, अभिसार करती हैं, अपने प्रियतम समुद्रसे मिलनेके लिए दौड़ती हैं, बहती हैं, तो उनकी वाणीमें संगीत और गतिमें नृत्य होता है। वे थिरकती, गाती-नाचती, ठुमुक-ठुमुककर लहराती चलती हैं। कारण, उनके कानोंमें पड़ गयी थी मुकुन्दकी वंशीध्वनि।

उपधार्य मुकुन्दगीतम्। उन नदियोंने मुकुन्दका गान सुना। जो मुक्ति दे—संसारसे मुक्ति दे दे सो 'मुकुन्द'। 'मुकु मुक्तिं द्यति' यानी जो मुक्तिका भी उच्छेद कर दे। हमें मुक्ति चाहिए ही नहीं। क्या हम अपने प्यारेको छोड़ मुक्ति लेंगे? किंवा—'मुखे कुन्दवत् हासो यस्य सः मुकुन्दः'- जिसके मुखमें कुन्दकली खिली रहती है उसका नाम है मुकुन्द। यह मुकुन्दका रसीला अर्थ है।

आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः। जिसकी वंशीध्वनिने कान दिया, उन्हींकी वंशीध्वनिने नदियोंके हृदयमें मनोबल दिया, 'मन' दिया और 'मनोज' दिया। जब नदियोंको कान मिल गया और

वे वंशीध्वनि सुनने लगीं तो मन जग गया और जब मन जग गया तो मनका बेटा—मनोज भी आ गया ! मनोभव काम भी आ गया !

'यह सब तुम्हें कैसे मालूम पड़ा है ?'

'नदियोंमें जो भँवर उठती है उससे ।'

तो, नदियोंके दिलमें भँवर उठने लगी : 'मनोभवभग्नवेगाः' । जब मुकुन्द-गीतका हृदयमें श्रवण हुआ, मनमें मनोभवका उदय हुआ और भँवर उठने लगी तो उनका वहना वन्द हो गया। वहीं घूम-घूमकर पानी वहने लगा। आवर्तलक्षितमनोभवभग्न-वेगाः। यहाँ 'लक्षित' शब्दका अर्थ है - वे दिखा रही हैं। कृष्णको ही दिखा रही हैं कि देखो श्यामसुन्दर, तुम्हारे लिए हमारे हृदयमें कितना प्रेम है। हम अब आगे नहीं जा सकतीं। थिरकती, गाती और नाचती वह चल रही थीं, पर अब ? अब हमारे पाँव ही नहीं चलते।

आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेः। कृष्ण नदीके पास चले गये। नदीने अपनी तरङ्गकी भुजासे भगवान्‌के चरणयुगल पकड़कर हृदयसे लगा लिये और उनपर कमलके फूलोंका उपहार चढ़ाने लगीं।

जब नदियोंकी यह दशा है, तो गोपी बेचारी क्या करे ? वह तो तड़प रही है, व्याकुल हो रही है—हमें यह सौभाग्य कब मिलेगा कि हम भी घूम-घूमकर श्रीकृष्णके आसपास मँडरायें। अपनी भुजाओंसे उनके चरणारविन्दका आलिङ्गन करें। अपने हृदय-कमल उनके चरणोंपर चढ़ा दें।

बोले : नदी तो वृन्दावनमें बहती है बाबा, जरा आसमानमें उड़नेवाले बादलोंकी ओर तो देखो—

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः,
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥ १६ ॥

गोपियोंने कहा कि ये व्रजके पशु तो निरे पशु हैं, इनको यह भी खयाल नहीं कि हम धूपमें जायँगी तो यह साँवरा-सलोना व्रजराजकुमार बड़ा सुकुमार हमारे पीछे-पीछे धूपमें आयेगा। और उधर आकाशमें बादलको देखो—**धूम-ज्योतिःसलिल-मरुतां सन्निपातः क्व मेघः।** (मेघदूत, ५) वह धुआँ, गर्मी, पानी, हवा, इनसे मिलकर बना है; फिर भी सोचता है कि यह परम सुकुमार, गोपीजनवल्लभ गोविन्द अपनी गायोंको चरा रहा है और बाँसुरी वजा रहा है। **प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः**—उसे धूपमें देखकर मेघके भी हृदय हो आता है, वह सहृदय हो जाता है। उसके हृदयमें प्रेम आ जाता है और प्रेमसे वह फूल जाता है—'प्रवृद्धः'। वह अपनी छोटी-छोटी फुहियोंसे मानो पुष्पोंकी वर्षा करता है और कृष्ण और सूर्यके बीचमें अपनेको रखकर '**आतपत्रम्**'—छाता बनकर श्रीकृष्णकी सेवा करता है।

गोपियाँ सोचती हैं—लेकिन हम हैं गोपी ! न बादलकी तरह हमें प्रेम आता है, न हम अपने प्रेमकी फुहियाँ उनके ऊपर बरसा पाती हैं, न उनका छाता बन पाती हैं। हाय-हाय ! वह दिन कब आयेगा जब हम श्रीकृष्णके शरीरको गर्म हवा न लगने देंगी, इन्हें गरमी नहीं लगने देंगी। हे भगवान्, हम बादल बन जायँ और श्रीकृष्ण जहाँ-जहाँ जायँ वहाँ-वहाँ उनपर छाया करें। हम पक्षी बन जायँ और जहाँ-जहाँ वे जायँ, उड़कर हम भी पहुँच जायँ। हम गायें बन जायँ, वनमें भी उन्हें देखें। हम हरिणी बन जायँ और कृष्णसार मृगोंके साथ उनकी प्रेमसे पूजा करें; क्योंकि

गोपी बनकर यह सब नहीं हो पाता। हम कुछ भी हो जायँ, किसी भी तरह प्यारेके लिए काममें आ जायँ, उसकी सेवामें लग जायँ।

देखो, बादलोंने भी इनसे रिश्ता जोड़ लिया है। बोलीं : 'अरे बादल! तू तो धुएँसे बना है, तेरा कृष्णसे क्या रिश्ता?' बोला : 'हमारा रिश्ता हैं।' 'कौन-सा?' 'बादरायण सम्बन्ध है।'

एक सज्जन शहरमें गये तो किसीके घरमें घुस गये। किसीने पूछा : 'कैसे पधारे?' तो बोले। 'आप हमारे सम्बन्धी हैं।' कौन-सा सम्बन्ध है?' बोले : 'हमें बेर बहुत अच्छे लगते हैं। हम घरमें उन्हें रोज़ ले आते और खाते हैं और आपके घरमें तो बेरका पेड़ ही है।' संस्कृतमें बेरको 'बदर' कहते हैं, बदर-सम्बन्धी रिश्ता, इसीका नाम है बादरायण-सम्बन्ध। लोगो बड़ोंसे झूठ-मूठका रिश्ता बना लेते हैं।

एक कथा है कि भाद्रशुक्ला चतुर्थीको चन्द्रमाका दर्शन नहीं किया जाता। हम लोगोंके गाँवमें उसे 'ढलैया चौथ' बोलते हैं। कोई चन्द्रको देख ले तो दूसरेके घरपर ढेला फेंके। उससे उसका दोष निवृत्त हो जाता है।

चन्द्रावली उसी दिन दूर्वा अक्षत गन्ध आदि का अर्घ्य हाथमें लेकर सायंकाल चन्द्रमाको अर्घ्य दे रही थी और देख रही थी चन्द्रमाको। सो नारदजीसे नहीं रहा गया। आये और चन्द्रकी ओर पीठ कर खड़े हो गये। स्वयं भी चन्द्रमाको नहीं देख रहे थे।

उन्होंने चन्द्रावलीसे पूछा : 'अरी, यह क्या कर रही है?'

बोली : 'महात्माजी, आप हमारा यह राज काहेको पूछते हो? दिलका राज़ न खुले, तभी अच्छा

'अरे बताओ भी, साधु ते होय न कारज हानी! मैं तेरा काम नहीं बिगाड़ूँगा, बता।'

बोली: 'महाराज, सबके लिए तो लोग कहते हैं कि यह कृष्णसे प्रेम करती है, और कृष्ण इससे प्रेम करते हैं। ये दोनों एक दूसरेको देखते हैं, एक दूसरेसे मिलते रहते हैं। गाँवमें सब गोपियों-की तो इज्जत बढ़ गयी कि श्रीकृष्ण इसपर लट्टू हैं, इससे प्रेम करते हैं। पर मुझे तो श्रीकृष्णके साथ झूठा कलंक भी नहीं लगता। आज मैं चन्द्रमाको देख रही हूँ कि इसके दर्शनसे गाँवके लोग अगर झूठा कलंक भी मुझे लगा दें तो मैं भी व्रजमें सुन्दरी मानी जाऊंगी। मेरी ओर तो कोई उंगलीतक नहीं उठाता। मैं चन्द्रमासे प्रार्थना कर रही हूं कि आज मैं आपका दर्शन करती हूँ कि सालभरके भीतर मुझे कलंक लग जाय।'

तो, बादल भी कहता है—श्रीकृष्णके साथ हमारा बादरायण सम्बन्ध है। वे हमारे सखा हैं: सख्युः। हम सांवरे हैं और वे भी, दोनों सजातीय हैं। वे छाता कैसे बने? स्ववपुषा। अपने अंग-अंगको ही छाता 'आतपत्र' बना दिया। 'आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्'—जो धूपसे बचाये, वह आतपत्र। उन्होंने अपने शरीरको ही श्रीकृष्णका छाता बना दिया।

गोपियाँ सोचती हैं—'बादलोंको यह सौभाग्य प्राप्त है, पर हम गोपियोंको वह भी सौभाग्य नसीब नहीं। चलो सखि! छोड़ो धैर्य, छोड़ो विवेक, हम तो कृष्णसे प्रेम करेंगी। हम तो कृष्णको धूप नहीं लगने देंगी, उसके शरीरका छाता बन जायँगी, लेकिन श्रीकृष्णके सुखमें सुखी होंगी। वही हमारा एकमात्र सुख है।'

यही प्रेमका स्वरूप है। तत्सुखे सुखित्वम्। जिससे प्रेम किया जाता है उसके और आपके बीच एक ही सुख है। आप उसे अपने

प्रियतमकी ओर खिसकाइये, अपनी ओर मत खींचिये। आप संसारमें भी प्रेम करना नहीं जानते, तो भगवान्‌की ओर कैसे बढ़ायेंगे ? आप तो सारा सुख अपनी ही परिधिमें रखना चाहते हैं। अरे, सारा सुख उठाकर अपने प्यारेके चरणोंमें डाल दो, उसपर निछावर कर फेंक दो। हमें सुख नहीं चाहिए, हमारे प्यारेको सुख चाहिए। इसीका नाम है 'प्रेम', इसीका नाम है 'भक्ति'। यह संसारमें भी सीखने योग्य है। यदि कृष्ण-गोपीका प्रेम न होता, तो संसारको यह प्रेमकी शिक्षा ही न मिलती।

भगवत्-प्रेम हृदयकी कठोरताको कोमलतामें बदल देता है। जब हृदयकी कठोरता कम होती है तो विद्रोह, संघर्ष, वैमनस्य और दु:खकी मनोवृत्ति कम होती है। हमारे कम्युनिस्ट भाइयों-का आरोप ही है कि 'गरीबों, मजदूरों और किसानोंको यह अध्यात्मविद्या मिथ्या आत्मतुष्टि देती है जिससे वे विद्रोह नहीं करते। इसलिए अध्यात्मवाद और धर्म कुछ शासनके पक्षमें जाता है तो कुछ सेठोंके पक्षमें।' लेकिन वे यह क्यों नहीं देखते कि यही विद्या सेठोंको, शासनको त्याग, वैराग्य उदारताकी बात सुनाती है और उनसे कहती है कि 'लक्ष्मी तुम्हारी नहीं, भगवान्‌की है, भूमि तुम्हारी नहीं, भगवान् की है।' इससे धनिकोंके प्रति भी कटाक्ष है। इस तरह अध्यात्मविद्या तो मजदूरों, किसानों, गरीबोंके पक्षमें बहुत अधिक जाती है।

असलमें अध्यात्मविद्याका स्वरूप है कि बाहरके पदार्थोंका मूल्यांकन कम हो जाय। गरीब उसके लिए युद्ध, वैमनस्य, संघर्ष या अशान्ति न उत्पन्न करे; क्योंकि धनकी बहुत कीमत नहीं है। और धनी उसे पकड़कर न बैठ जायँ। उनमें त्यागकी वृत्ति हो, वे सबमें भगवद्भाव बनाकर सबके सुखका ख्याल रखें।

इस प्रकार अध्यात्म-विद्या एक बहुत संतुलित विद्या है। यह न धनीके पक्षमें जाती है, न गरीबके। यह बाह्य सम्पदाके मूल्यको कम करती और अन्तःसम्पदाका मूल्य बढ़ाती है जिससे हमारे जीवनमें सच्चरित्रता, नैतिकता, दैवी सम्पदा और अन्तर्मुखता रहे—संघर्ष, वैमनस्य, विद्रोह और युद्ध कम हो। अध्यात्म-विद्या संतुलनकी विद्या है, पक्षपातकी नहीं।

हम यह चाहते हैं कि आपका हृदय कोमल हो। हम जानते हैं कि एक पुरुषका हृदय अपनी प्रेयसीको देखकर कोमल हो जाता है। कोई बड़े क्रोधमें हो, चेहरा बिगड़ा हो, आँखें लाल-लाल हो रही हों, मुँह टेढ़ा हो रहा हो और जोर-जोरसे बोल रहा हो—इसी बीच जिससे उसकी मँगनी हुई है, वह लड़की सामने आ जाय तो वह तुरन्त पानी-पानी हो जाता है। तो, प्रेमका स्वभाव है कि वह हृदयको कोमल बनाता है, व्यवहारको सौम्य बनाता है, ममता और अहंकारको शिथिल करता है, हमारे जीवनमें विश्वास और सेवा देता है।

अब आओ, आपको ले चलें श्रीकृष्णकी लीलामें। वेणुगीतके प्रारम्भमें यह बात कही गयी कि जिससे हम प्रेम करते हैं, वह भी हमसे प्रेम करता है:

यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।

श्रीकृष्ण प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखते हैं। 'अरी सखि, हमारा ही प्रेम उनसे नहीं है, उनका भी हमसे है'—यह देखो विश्वास:

प्रेमा हि जनिष्यमाणः चित्तं विश्रम्भयति।

जिसके हृदयमें प्रेम जागनेवाला होता है, उसके हृदयको वह पहले

ही विश्वाससे पूर्ण कर देता है। पहले विश्वास नहीं आयेगा तो प्रेमका उदय भी नहीं होगा—यह बात वेणुगीतके पहले श्लोकमें है।

जिससे प्रेम होनेवाला होगा, उसकी ललितकला, उसका सौंदर्य, उसकी झाँकी दूर होनेपर भी मनमें आने लगती है—यह दूसरे श्लोकका अभिप्राय है। इस समय श्रीकृष्ण वनमें क्या कर रहे हैं, कैसी वेशभूषा है, कैसे गा रहे हैं, क्या नाट्य कर रहे हैं? प्रेम दूरी, देरी और परायेपनको मिटा देता है। इससे प्रेमाद्वैतकी सिद्धि होती है। इसका अर्थ है कि हम, तुम दोनों एकरूप हैं।

तीसरी बात आती है—वंशीध्वनि सुनकर सात्त्विकभाव और अनुभावका उदय होना। ह्रदिनियोंको भी रोमांच होता है और वृक्षासे भी अश्रु बहते हैं।

इसके बाद है केवल प्रियतम और मयूर। श्रीकृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं, मोर नाच रहा है और शान्ति ही शान्ति है। अपने प्रियतमके सिवा और कोई हलचल दुनियामें नहीं है। सारा प्रपंच निःस्पन्द है और प्रियतम प्रेमकी वर्षा कर रहा है।

इसके बाद है प्रेमभरी आँखोंसे प्रियतमकी पूजा। प्रेमके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। किसीकी हम खुफियागिरी करें और उससे प्रेम भी करें, यह सम्भव नहीं। किसीपर संशय होता है तो गुप्तचर-विभाग उसके पीछे काम करता है। हम जिससे प्रेम करते हैं, वह कैसा है, इसका पता लगानेकी कोई जरूरत नहीं। अब तो वह जैसा है, वैसा है। उसमें ज्ञानकी अपेक्षा किये बिना आँखोंसे पूजा होती है। पदार्थकी कोई भी आवश्यकता नहीं।

इसके बाद बताया—देवियोंको प्रपंचका विस्मरण हो जाता है। वे अपना दिल भूल जाती हैं, श्रृङ्गार भूल जाती हैं; अपना

बल भूल जाती हैं और सारी दुनिया भूल जाती हैं। केवल अपने प्यारेको देखती हैं।

इसके बाद गायोंका वर्णन है। उनको खान-पान, वात्सल्य सब कुछ भूल जाता है। उनकी आँखोंमें आँसू हैं और हृदयमें प्रियतम गोविन्दका स्फुरण।

इसके बाद है कि बड़े-बड़े वैदिक मुनि भी निष्पक्ष नहीं रहते, पक्षी बन जाते हैं। निष्पक्षको पक्षी बनाना यह भी प्रेमका ही काम है।

भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूर बहाई॥

भक्तिपक्षमें जब हठ होगा तो पक्षी हो जायँगे। तो, ये बड़े-बड़े वैदिक मुनि पक्षी हो गये। उन्होंने स्वर्गादिकी आकांक्षा छोड़ दी, फलपर उनकी दृष्टि ही नहीं है। वाणीमें मौन और खुले नेत्रोंसे श्रीकृष्णका दर्शन!

देखो, प्रपञ्च-विस्मरण हुआ, सेवा हुई, ध्यान हुआ और उसके बाद दर्शन हुआ। ऋषि-मुनि वृक्षपर बैठकर खुली आँखों भगवान्‌का दर्शन कर रहे हैं।

उसके बाद नदियोंका वर्णन है। नदियोंने आत्मसमर्पण कर दिया और उसके बाद मेघोंने उनपर छाया कर दी, यानी सेवा आ गयी। पूजा अलग चीज होती है और सेवा अलग। मेघ छाया करके सेवा करते हैं। यह क्रम है—वेणुगीतकी यहाँतककी बातें आपको सुना दीं। इसका नाम है 'सिंहावलोकन'।

प्रेमकी परिभाषाके ये जो तेरह गीत हैं, सभी प्रेमका पूरा विवरण देते हैं। विवरण यानी खुलासा, बेपर्द करना। प्रेमपर

पर्दा पड़ा है, एक-एक गीत एक-एक पर्दा हटा देता है। यह रसास्वादनकी प्रक्रिया है, समाज-सेवाकी नहीं। जिसके हृदयमें प्रेमका उदय हो जाता है, उसके शरीरमें से ऐसी तन्मात्राएँ निकलती हैं कि पास-पड़ोस प्रेमको भावनासे तर हो जाय। उसकी आँखोंसे प्रेम बरसता है, वाणीमें से प्रेम प्रस्फुटित होता है, त्वचाके छिद्र प्रेम फैलाते हैं। ये मण्डल बनाती हैं, जैसे तेजोमण्डल ज्योतिर्मण्डल। वह प्रेमके प्रकाशका ही प्रतीक है। अब अगला श्लोक सुनिये :

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥ १७॥

पूर्णाः पुलिन्द्यः। ये भीलनियाँ न जातिसे ऊँची हैं, न ज्ञानसे ऊँची। न आचरणसे ऊँचो हैं और न इनका खान-पान ही अच्छा है। भगवान्‌के काममें ज्यादा खुरचबीन नहीं करनी चाहिए, वह तो 'पंथाई' लोगोंकी बात है। भगवान्‌की कृपा सबपर होती है। हम आचारके पुरोहित नहीं हैं।

रत्नाकरजी कहते हैं—

चाकर नहीं हैं काहू ब्रह्मके बबाकी हम,
सूधे कहि देति ऊधो कान्हकी कमेरी हैं।

गोपियाँ सीधी-सीधी बात कह देती हैं कि हम किसी ब्रह्मके बाबाकी चाकर नहीं। ऊधो जी, हम तो अपने कन्हैयाकी कर्मकरी हैं, उनकी दासी हैं।

गीध अधम खल आमिषभोगी।
गति सो दीन्हि जेहि जाचत जोगी॥

अपने-अपने पुरोहितसे आप अपना आचार सीखिये, अपने-अपने गुरुसे मन्त्र और इष्टदेवता सीखिये और अपने सम्प्रदाय-की मर्यादाके अनुसार चलिये, सब ठीक हो जायगा। किन्तु हम जो बात कह रहे हैं वह आचारकी नहीं है। आप उसे अपने-अपने ढंगसे मानिये। जिसके घर जो मसाला अचारमें पड़ता हो, उसे डालिये। सब हमारे घरकी तरह अचार बनायें, इसकी हमें कोई जरूरत नहीं।

हम आपकी जाति भी बदलनेके लिए नहीं आये हैं कि आओ अब आपकी जाति बदल दें। आकृतिसे जिस जातिका ग्रहण होता है, वह प्राकृत है। जैसे पशु-जाति, पक्षी-जाति, मनुष्य-जाति। वैयाकरणोंको यही इष्ट है : आकृतिग्रहणा जातिः। आकृति देखकर जो पकड़में आ जाय उसे 'जाति' कहते हैं। तब ये ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य क्या हैं? ये आकृतिसे गृहीत नहीं होते। यह आकृतिव्यंग्या जाति नहीं, वर्णव्यंग्या हैं—वर्णनसे व्यंग्य हैं। वर्णनसे जो ज्ञात हो, उसका नाम वर्णव्यंग्य है। ये प्राकृत जातियाँ नहीं, संस्कृत जातियाँ हैं। इन्हें 'वर्ण' कहा जाता है।

तो देखो, ये जो भील आदि हैं—जिनकी न जाति ऊँची, न ज्ञान ऊँचा और न आचार ऊँचा है, पर गोपियाँ कहती हैं कि 'ये पूर्ण हैं।' असलमें जहाँ भगवान्‌का प्रेम ही नहीं, वहाँ पूर्णता कहाँसे आयेगी?

जोग कुजोग ग्यान अग्यान्।
जहाँ न रामप्रेम परधान्॥

इनकी पूर्णता है भगवत्प्रेमसे, जाति, ज्ञान या आचारसे नहीं। जिसका पूर्णसे प्रेम हो गया, वह पूर्ण हो गया। आपको गीताका वह श्लोक याद ही होगा : यो यच्छ्रद्धः स एव सः। जिसपर

जिसकी श्रद्धा है, वह वही है। जिसका भगवान्से प्रेम है, वह भगवद्रूप है, जिसका पूर्णसे प्रेम है, वह पूर्ण है : पूर्णाः पुलिन्द्यः।

प्रश्न यह है कि आचारहीन, ज्ञानहीन, जातिहीन ये किरातियां पूर्ण कैसे ? ये पूर्ण इसलिए हुईं कि इन्होंने दूरसे कहीं श्रीकृष्णको देखा। तद्दर्शनस्मररुजः—श्रीकृष्णके दर्शनसे उनके मनमें कामका उदय हो गया। यही भक्तिकी विशेषता है। योगमें कामको मिटाकर समाधि लगती है। ज्ञानका उदय ही तब होता है जब हृदय निष्काम हो जाय, भले ही वह एक क्षणके लिए हो। ज्ञानोदय के अव्यवहित पूर्वक्षणमें अन्तःकरणका शुद्ध होना अनिवार्य है। ज्योंही कामकी निवृत्ति होती है, त्योंही ज्ञानका उदय होता है :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।

किन्तु जिसका वर्णन कर रहे हैं, वह न योग है और न तत्त्वज्ञान। इसका नाम है भगवत्प्रेम। भगवान् पहले काम देते हैं, वे उसके पिता, जनक जो हैं। उन्हें देखकर मनमें कामका उदय होता है— ऐसा काम, जो कामका मुँह मोड़ दे। तब प्रपंचकी नहीं, भगवान्की कामना हो उठती है : 'तद्दर्शनस्मररुजः'। ऐश्वर्य, माधुर्य, सर्वज्ञता, वात्सल्य, कारुण्य आदि अचिन्त्य-अनन्त, कल्याण-गुणगण-निलय प्रभुका जब दर्शन होता है तो मन चाहता है कि इन्हें आँखोंसे पी जायँ, हृदयसे लगाकर एक कर लें, चाट लें।

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥

(भाग० १०. ४३. २१)

तो, प्रभु हमारे हृदयको कामसे भर देनेवाला है; फिर भी वह काम अन्यविषयक नहीं, स्वविषयक, भगवद्विषयक होता है।

भक्ति-सिद्धान्त या प्रेम-सिद्धान्तमें काम वर्जित नहीं। फिर भी भगवान्‌को छोड़ और किसीकी कामना नहीं रहती। भक्ति-शब्दका अर्थ ही यह है—'भञ्जनं भक्तिः, भजनं भक्तिः।' 'भञ्जो आमर्दने' धातुसे भी भक्तिशब्द बनता है। जैसे 'व्यञ्जनं व्यक्तिः, रञ्जनं रक्तिः' वैसे ही 'भञ्जनं भक्तिः' है।

सब सों तोर हरी सों जोर्‌यो।

सबसे तोड़ना भी भक्ति है और हरिसे जोड़ना भी भक्ति। तोड़ने-जोड़नेका यह काम तो भगवान् ही करते हैं। भगवान् नहीं, उनको देखनेसे हृदयमें जो काम आता है वही जोड़-तोड़का काम कर लेता है। कामनामें जोड़-तोड़ तो है ही, सबको छोड़ दिया और एकसे जोड़ लिया!

'तद्दर्शनस्मररुजः—भगवान्‌के दर्शनसे भीलनियोंके मनमें कामकी व्याधि पैदा हुई। यहाँ एक सूक्ष्म बात यह देखें कि भीलनियोंको अपनी योग्यताका विस्मरण हो गया। हम भगवान्‌के योग्य हैं या अयोग्य, हम कैसे हैं—इसका भी ध्यान नहीं रहा। हमें तो यह चाहिए, यही लालच आ गया।

उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन तृणरूषितेन।

उनको मिल गया भगवान्‌के चरणारविन्दका कुंकुम। कैसे? देखें, यह जो काम हुआ तो भगवान्‌ने कहा: 'पहले ध्यान करो।' 'ध्यान कैसे करेंगे?' भगवान्‌ने कहा: 'पहले कुंकुम लगाओ।' 'महाराज, आपका कुंकुम हमें कहाँसे मिलेगा?' बोले: 'वृन्दावनके तृण-तृणमें हमारा कुंकुम लगा है—तृणरूषितेन।

'भला तृणमें कुंकुम कहाँसे आया?'

सामान्य रूपसे श्लोक पढ़ जायँ तो इसका पता नहीं चलेगा। श्लोक अनधिकारीके प्रति कृपण होता है। यदि कोई अधिकारी न हो और श्रद्धा प्रेमके साथ अनुकूल होकर नहीं, अपितु खुचर-दोष निकालने या आक्षेप करनेके लिए उसका स्वाध्याय करे तो उसके प्रति श्लोक भी अपने दोष ही प्रकट करता है। एक-एक शब्द कल्पवृक्ष है, वाक् कल्पवृक्ष है। यदि तुम हमसे दोष लेनेके लिए आये हो तो लो, दोष ले लो। **आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था**—जब कोई प्रतिकूल व्यक्ति भगवान्‌की ओर देखता है तो उसे अपनी प्रतिकूलताके अनुसार दोष ही मिलता है। जब कोई अनुकूल व्यक्ति भगवान्‌की ओर देखता है तो अपनी अनुकूलताके अनुसार उसे गुण ही मिलते हैं।

उरु गीयते इति उरुगायः। उरुगाय यानी भगवान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

सत्य एक है, तत्त्वज्ञ लोग उसका अनेक रूपोंमें वर्णन करते हैं। पर वर्णनकी भिन्नतासे आप भगवान्‌को भिन्न-भिन्न न समझें। किसीको चक्र अच्छा लगता है तो किसीको कमल। किसीको धनुष-बाण अच्छा लगता है तो किसीको बाँसुरी। हमारा तो अभिप्राय उस भगवान्‌से है, जिसका वर्णन बाँसुरीवालेके रूपमें है, धनुर्धारीके रूपमें है, चक्रधारीके रूपमें है, त्रिशूलधारीके रूपमें है; उस एक भगवान्‌से है जो 'हरि' और 'हर' दोनोंका भेद छोड़कर अखण्ड रूपसे है।

'उरु=बहु यथा स्यात्तथा गीयते इति उरुगायः।' अर्थात् जिसका वर्णन अनेक प्रकारसे हो, एक प्रकारसे नहीं, वह निराकार भी है और साकार भी, निर्गुण भी है और सगुण भी, यहाँ

भी है, वहाँ भी। आप वर्णनके भेदसे कहीं वर्ण्यमें भेद न समझ लें, इसीलिए भगवान्का नाम है 'उरुगाथः'।

अलंकार बहुत हैं, कविता बहुत है, पर सब अलंकारों, काव्य-च्छटाओं द्वारा एक ही रसमय प्रभुकी शोभाका निरूपण होता है। उनके पदाब्ज यानी चरणकमलोंमें श्रीकुङ्कुमकी लाली है।

यह कुङ्कुम-केसर आया कहाँसे? यह एक रहस्य है, जो अनजानमें ही गोपीके मुँहसे निकल गया। शुकदेवजी महाराज वर्णन करते-करते असावधान हो गये। प्रेमको सावधान रहना पड़ता है।

प्रेमी जब प्रेमसे काम करता है, तो प्रियतममें इतना तन्मय हो जाता है कि कभी-कभी उसके लिए सावधान रहना भी कठिन हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णको पंखा कर रहा था दारुक। प्रेमानन्दका उदय हुआ, ऐसा लगा कि अब बेसुध हो जायगा। झट सावधान! अरी समाधि! हट जा, हमारी सेवामें बाधा डालने आयी है? तू तो सेवाका विघ्न है। मैं पहचानता हूँ, तू अन्तराय है, प्रत्यवाय है।

श्रवणानन्दमें एकान्त बाधक होता है। इसमें तीर्थयात्रा भी विघ्न है, जप-ध्यान भी विघ्न है। वैसे तो आपकी निष्ठा जहाँ हो, वही आप करें, पर यह 'श्रवण' अज्ञात-ज्ञापक है। जो आपको मालूम नहीं, वह श्रवणसे ज्ञात हो जाता है। वह एकान्त ध्यान, समाधि या तीर्थयात्रा करनेसे ज्ञात नहीं होता। ये सभी तो गृहीत-ग्राहक हैं, पहलेसे जितना आप जानते हैं, इनसे उतना ही ज्ञान आपका रहेगा। लेकिन श्रवण अज्ञातज्ञापक है। जिसे आप नहीं जानते, उसे भी श्रवण मालूम करा देता है। बाकी सबके सब साधन संस्कारजन्य होते हैं। 'संस्कारजन्य' यानी पहलेसे जानी

हुई चीज़का याद आना और 'अज्ञातज्ञापक' यानी जो कभी नहीं जानी गयी, उसे मालूम कराना। अतः 'स्मरण'से 'श्रवण' श्रेष्ठ है।

भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिनके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

तो, प्रश्न यही है कि यह कुंकुम भगवान्‌के चरणोंमें कहाँसे आया जो तृणको मिला, जो वृन्दावनका तृण इन भीलनियोंको कुंकुम प्रदान कर रहा है। लो भाई भगवान्‌से ब्याह करना हो तो वृन्दावनके तृणका आदर करो, उनसे कुंकुम ले लो। उनको कहाँसे मिला? बोले: यह पूछो कि भगवान्‌के चरणोंमें कहाँसे आया? यह नहीं कि सबको कुंकुम बाँटते फिरें। वे भी किसीसे कुंकुम लेकर ही देते हैं। यदि श्रीराधारानीका कुंकुम न हो, गोपीका कुंकुम न हो तो वे भीलनियोंको कहाँसे देंगे?

यदि यह कुंकुम वे भीलनियोंका हो तो गोपियाँ प्रभुको यह कहकर जातिसे बाहर कर देंगी कि 'भीलनियोंका कुंकुम लेकर आये हो और हमें छूते हो? किरातियोंको कुंकुम देकर आये हो, उनको सौभाग्य-सिन्दूर देकर आये हो। हटो, जाओ जातिसे बाहर।'

गोपियाँ कृष्ण भगवान्‌को जातिसे बाहर कर देती हैं, यह पुराणोंमें कथा आती है। जब वृषभासुरको मारकर भगवान् वृन्दावनमें पहुँचे तो गोपियोंने कहा: 'छूना मत हमें! वह असुर था तो क्या हुआ, बैलको मारकर आये हो न!'

इसका नाम है प्रेम। द्वेष नहीं, बहिष्कार नहीं।

'छूना मत।'

'क्या है?'

'प्रायश्चित्त करो।'

'प्रायश्चित्त क्या करें ?'

'अड़सठ तीर्थोंका स्नान करो।'

श्रीकृष्णने कहा : 'अच्छा भई! जाते हैं अड़सठ तीर्थोंका स्नान करने।'

श्रीराधारानीकी तो आँखोंमें आँसू आ गये, हृदय काँप उठा। अरे, हम लोगोंने प्रायश्चित्त करवानेके लिए क्या कर दिया! स्वयं वियोग मोल ले लिया।

उन्होंने कहा : 'नहीं-नहीं, ठहरो, मैं अभी आज्ञा देती हूँ कि अड़सठों तीर्थ यहाँ अपना-अपना जल ले आयें।'

श्रीराधारानीने एक कुण्ड खोदा। अपने पादांगुष्ठसे धरती कुरेद दी और कुण्ड बन गया और श्रीकृष्णने अपनी बाँसुरीसे धरती कुरेदी और कुण्ड बन गया। 'राधा-कृष्ण-कुण्ड'की खुदाई हुई और अड़सठों तीर्थोंने लाकर उसमें अपना जल डाला।

यह हुआ कि स्नान करेंगे। गोपियोंने कहा : 'अकेले स्नान करनेसे प्रायश्चित्त नहीं होगा। पहले राधारानीके साथ गाँठ बाँधो, दोनों मिलकर नहाओ और एकबार राधाकुंडमें और एक बार कृष्णकुण्ड में।'

यह कथा पद्मपुराणमें आयी है। कहनेका अभिप्राय यह कि गोपियोंका इतना प्रेम है, इतनी ममता है, इतनी आत्मीयता है कि वे श्रीकृष्णसे यह भी कह देती हैं कि 'मत छुओ।'

गोपी कहती है : सखि नन्दलाल न आने पावे। 'घरमें घुसने न पायें, क्योंकि इन्होंने इतनी देर कहाँ कर दी ?'

ग्वाल-बाल कहते हैं :

दूर करो हरि अपनी गैयां ना हम चाकर नन्दबबाके।

हम कोई नन्दबाबाके चाकर थोड़े हैं ?

यशोदा मैया कहती है : बाँधूंगी आजु तुम्हें कौन छोड़े।

यशोदा मैया प्रभुको बाँध देती हैं। ग्वाल-बाल गायें अलग करवा देते हैं। गोपियाँ घरमें आनेसे मना कर देती हैं। ये तो कृष्ण ही हैं जो कहते हैं—'वाह-वाह ! कितना अपनापन है। कोई देवता, कोई ऋषि-मुनि हमें इतना अपना नहीं समझता। यह तो आत्मीयताकी पराकाष्ठा है।

दयितास्तनमण्डितेन। आखिर यह कुंकुम कहाँसे मिला ? प्रश्न शेष ही है। बोले : एक दयिताने दे दिया। दयिता यानी प्रेयसी। अपनी प्रेयसीका कुंकुम उनके चरणोंमें लगा है। यह तो और आश्चर्य है कि दयिताके वक्षःस्थलका कुंकुम भगवान्के चरणोंमें लगे।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने तो इसका बड़ा ही सरस व्याख्यान किया है। कामशास्त्रके अनुसार चौरासी प्रकारके आसनोंमें एक आसनसे चरण वक्षःस्थलपर पहुँच गये और प्रेयसी के वक्षःस्थलका कुंकुम चरणोंमें लग गया। हम वल्लभाचार्यकृत-रसीली व्याख्या करके भगवान्की 'प्राइवेसी' सबके सामने ज़ाहिर नहीं करेंगे। क्योंकि हम कृष्णके पक्षके हैं, कंसके पक्षके थोड़े ही हैं।

हाँ, विश्वनाथ चक्रवर्तीकी व्याख्या आपको सुनाते हैं। वह यह है कि एक गोपी खेतमें काम करनेवाले गोपके लिए अपने सिर-पर छाछ लेकर जा रही थी। कृष्णका नाम लेती, गुनगुनाती और कहीं रास्तेमें मिल जायँ, इस आशासे इधर-उधर देखती

'प्रायश्चित्त क्या करें ?'

'अड़सठ तीर्थोंका स्नान करो।'

श्रीकृष्णने कहा : 'अच्छा भई! जाते हैं अड़सठ तीर्थोंका स्नान करने।'

श्रीराधारानीकी तो आँखोंमें आँसू आ गये, हृदय काँप उठा। अरे, हम लोगोंने प्रायश्चित्त करवानेके लिए क्या कर दिया! स्वयं वियोग मोल ले लिया।

उन्होंने कहा : 'नहीं-नहीं, ठहरो, मैं अभी आज्ञा देती हूँ कि अड़सठों तीर्थ यहाँ अपना-अपना जल ले आयें।'

श्रीराधारानीने एक कुण्ड खोदा। अपने पादांगुष्ठसे धरती कुरेद दी और कुण्ड बन गया और श्रीकृष्णने अपनी बाँसुरीसे धरती कुरेदी और कुण्ड बन गया। 'राधा-कृष्ण-कुण्ड'की खुदाई हुई और अड़सठों तीर्थोंने लाकर उसमें अपना जल डाला।

यह हुआ कि स्नान करेंगे। गोपियोंने कहा : 'अकेले स्नान करनेसे प्रायश्चित्त नहीं होगा। पहले राधारानीके साथ गाँठ बाँधो, दोनों मिलकर नहाओ और एकबार राधाकुंडमें और एक बार कृष्णकुण्ड में।'

यह कथा पद्मपुराणमें आयी है। कहनेका अभिप्राय यह कि गोपियोंका इतना प्रेम है, इतनी ममता है, इतनी आत्मीयता है कि वे श्रीकृष्णसे यह भी कह देती हैं कि 'मत छुओ।'

गोपी कहती है : सखि नन्दलाल न आने पावे। 'घरमें घुसने न पायें, क्योंकि इन्होंने इतनी देर कहाँ कर दी ?'

ग्वाल-बाल कहते हैं :

दूर करो हरि अपनी गैयां ना हम चाकर नन्दबबाके।

हम कोई नन्दबाबाके चाकर थोड़े हैं ?

यशोदा मैया कहती है : **बाँधूंगी आजु तुम्हें कौन छोड़े।**

यशोदा मैया प्रभुको बाँध देती हैं। ग्वाल-बाल गायें अलग करवा देते हैं ! गोपियाँ घरमें आनेसे मना कर देती हैं। ये तो कृष्ण ही हैं जो कहते हैं—'वाह-वाह ! कितना अपनापन है। कोई देवता, कोई ऋषि-मुनि हमें इतना अपना नहीं समझता। यह तो आत्मीयताकी पराकाष्ठा है।

दयितास्तनमण्डितेन। आखिर यह कुंकुम कहाँसे मिला ? प्रश्न शेष ही है। बोले : एक दयिताने दे दिया। दयिता यानी प्रेयसी। अपनी प्रेयसीका कुंकुम उनके चरणोंमें लगा है। यह तो और आश्चर्य है कि दयिताके वक्षःस्थलका कुंकुम भगवान्‌के चरणोंमें लगे।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने तो इसका बड़ा ही सरस व्याख्यान किया है। कामशास्त्रके अनुसार चौरासी प्रकारके आसनोंमें एक आसनसे चरण वक्षःस्थलपर पहुँच गये और प्रेयसी के वक्षःस्थलका कुंकुम चरणोंमें लग गया। हम वल्लभाचार्यकृत-रसीली व्याख्या करके भगवान्‌की 'प्राइवेसी' सबके सामने ज़ाहिर नहीं करेंगे। क्योंकि हम कृष्णके पक्षके हैं, कंसके पक्षके थोड़े ही हैं।

हाँ, विश्वनाथ चक्रवर्तीकी व्याख्या आपको सुनाते हैं। वह यह है कि एक गोपी खेतमें काम करनेवाले गोपके लिए अपने सिर-पर छाछ लेकर जा रही थी। कृष्णका नाम लेती, गुनगुनाती और कहीं रास्तेमें मिल जायँ, इस आशासे इधर-उधर देखती

जा रही थी। स्थिर गम्भीर नेत्रोंसे नहीं, कभी दाँयें देखे, कभी बाँयें देखे, कभी सामने देखे, कभी पीछे घूमकर देखने लगे कि यह क्या खड़क गया। वह सिर पर छाछ लिये चली जा रही थी।

इतनेमें श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते उसके सामनेसे निकले तो वह बेचारी सूख गयी। गिरने लगी तो दौड़कर श्रीकृष्णने उसके सिर पर जो छाछ रखी थी उसे सँभाल लिया। बेचारी बेहोश होकर गिर पड़ी और छटपटाने लगी।

उसका पति खेतमें प्रतीक्षा कर रहा था कि छाछ लेकर, भोजनसामग्री लेकर आये। वह समयपर नहीं आयी तो वह खेतका काम बन्द कर वनमें लौट आया कि देखें रास्तेमें कहीं भूल तो नहीं गयी, भटक तो नहीं गयी!

भगवान् कृष्णने देखा कि इसका पति आनेवाला है तो झट उसके हृदयपर पाँव रखते हुए निकल गये। फलतः उसके वक्षःस्थल-पर जो कुंकुम लगा हुआ था, वह श्रीकृष्णके चरणोंमें लग गया।

जब वह गोप आया तो देखा कि हमारी गोपी तो यहाँ बेसुध पड़ी है। उसने पूछा : 'क्या था?' वह बोली : 'काला-काला कृष्ण-कृष्ण।' गोपने सोचा कि यहाँ कोई काला भूत होगा जिसने हमारी पत्नीको सताया होगा। छाछ-वाछ तो सब ठीक थी, कहीं कुछ गिरा नहीं था। वह सोचने लगा—शायद कोई भूत लग गया हो। उसने उसमेंसे थोड़ा निकाल दिया और कहा : 'यहाँ जो देवता रहता है, वह इस भेंट-पूजासे तृप्त हो जाय, क्योंकि उसीकी नजर पड़नेसे यह हमारी पत्नी व्याकुल हो गयी है।' ऐसा कहकर वह बलि देने लगा।

वहीं एक पेड़की आड़में खड़े-खड़े कृष्ण मुस्कुरा रहे थे। उन्होंने लपककर उस बलिको ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार उस वक्षःस्थलमें जो कुंकुम लगा हुआ था, वही श्रीकृष्णके चरणोंमें लग गया। प्रियतमको दुर्गन्ध न आये, इसलिए मुँह भी साफ रखना पड़ता है। कहीं अरुचि न हो जाय, यह ध्यान रखकर अपना शृङ्गार करना पड़ता है।

तो, गोपी अपने वक्षःस्थलपर कुंकुमका लेप करती है। यानी वह कुंकुम श्रीकृष्णको गोपीसे प्राप्त है, और श्रीकृष्णसे प्राप्त है तृणको, और तृणसे प्राप्त हुआ भीलनियोंको। अब श्रीकृष्णके दर्शनसे उनके हृदयमें जो कामका आवेग आया, तो उन्होंने क्या किया? तृणमें लगा श्रीकुंकुम तृणमेंसे पोंछ लिया और आननोंमें उनका लिम्पन कर उस मनोव्यथाको मिटा लिया :

लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्।

उन्होंने सोचा—चलो, भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द तो प्राप्त न हुए तो भी उनके चरणोंमें लगा कुंकुम तो परम्परया प्राप्त हो गया।

अपने प्रियतमसे सम्बद्ध पदार्थको देखकर अपार हर्ष होता है। जब चैतन्य महाप्रभु वृन्दावनमें आये तो उन्हें बताया गया कि यह वही कदम्ब है, जिसकी डालीपर बैठकर भगवान् बाँसुरी बजाया करते थे। उन्होंने सोचा—'अरे इसीपर बैठते थे? कैसे पाँव लटकाकर बैठते थे? इसीपर बाँसुरी बजाते थे?' झट आँखोंमें आँसू आ गये, शरीरमें रोमांच हुआ और 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' करने लगे।

अब कहाँ वह भगवान् श्रीकृष्णके वंशीवादनका समय और कहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु! करें ज़रा ऐतिहासिक अनुसंधान। वह कौन-सा संवत्, कौन-सा महीना और कौन-सा दिन था, और तबका कदम्बवृक्ष अबतक है या नहीं? छोड़ो, इस बातको कालवादियोंके सिरपर। 'अरे ओ कालके प्रेमियो! अरे ऐतिहासिको! तुम लोग इसका अनुसंधान करो, हमें तो इसी

कदम्बपर वही कृष्ण बैठा दीखता है'—यह भक्तिका रस है। यह वर्तमानका रस है, भूतका रस नहीं है। जिन्हें 'भूत' लगा है, लगने दो और जो भविष्यकी कल्पनामें मग्न हैं, उन्हें उसीमें डूबने दो। तुम तो अपने आपको भूत मत लगाओ, कल्पनाके चक्कर-में मत डालो। देखो यह रहा कृष्ण!

लिम्पन्त्य आननकुचेषु। वह कुंकुम लेकर उन्होंने अपने मुखमें लेप किया। उन्हें श्रीकृष्णके चरणारविन्दका कुंकुम, साक्षात् नहीं, परम्परया और वह भी तृण-सम्बन्धसे मिला, किसी महा-पुरुषके सम्बन्धसे नहीं। इस तिनकेके सम्बन्धसे, 'तृण'के सम्बन्ध-से मिल गया। हम यह नहीं देखते कि किसके द्वारा मिलता है।

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः।
(किरातार्जुनीय १.५)

हमें यह नहीं देखना कि वक्ता कौन है? हमें यह देखना है कि क्या बोल रहा है। हमें भगवद्-लीलाका अनुसन्धान करना है। कुंकुम चाहिए, वह तृणसे मिला या महापुरुषसे इससे हमारा कोई मतलब नहीं। और उससे हुआ क्या? श्रीकृष्णके दर्शनसे हृदयमें लालसाका, उत्कण्ठाका, व्याकुलताका जो तीव्र वेग उदय हुआ था, वह कुंकुमके स्पर्शमात्रसे शान्त हो गया।

अब देखें प्रेमके साथ सेवा। जिससे प्रेम होता है, उसकी सेवा करनेमें रस आता है। विश्वाससे प्रेम पैदा होता है।

प्रेमा जनिष्यमाणः चित्तं विश्रम्भयति।

जिसके हृदयमें प्रेम पैदा होनेवाला है, उसके हृदयमें पहले विश्वास आता है और जब प्रेम पैदा हो जाता है, तब प्रेमसे प्रणय और स्नेह होता है, मान और अनुराग होता है, भाव-महाभाव

होता है। यह सब प्रेमकी वंशपरम्परा है—प्रेम, प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव, अधिरूढ़ महाभाव, मादन महाभाव, मोदन महाभाव।

आप लोग क्लासकी पुस्तकें ज्यादा पढ़ते हैं, तो विद्यार्थी कहानी-उपन्यास ज्यादा पढ़ते हैं पर क्या आपने हमारे प्रेमशास्त्र-का स्वाध्याय किया है? प्रेमसे सेवा निकलती है। प्रीतिकी पहचान या प्रेमकी अभिव्यक्ति ही सेवा है। इसलिए गिरिराज ऐसी सेवा करते हैं :

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्ण - चरणस्पर्श - प्रमोदः।
मानं तनोति सह गोगणयास्तयोर्यत्
पानीय - सूयवस - कन्दर - कन्दमूलैः ॥ १८ ॥

हे अबला ओ! अरी सखियो! अयम् अद्रिः यह पर्वत, हरिदास-वर्यः—भगवान्‌के सेवकोंमें अग्रणा है। 'अत्ति इति अद्रिः'—जो खाये, उसका नाम है 'अद्रि'। वैसे संस्कृत भाषामें 'अद्रि' का अर्थ पर्वत होता है, पर 'अद्रि' शब्दका यौगिक अर्थ है. खानेवाला। दुनियाका कौन पहाड़ खानेवाला है? अरे, यह गोवर्धन पहाड़ तो बाल्टीकी बाल्टी खीर खानेवाला है, टोकरीकी टोकरी कचौड़ी उड़ा जानेवाला है। हजारोंकी संख्यामें सपासप लड्डू खाये किसने? बोले : 'अद्रिने।'

भगवान्‌के सेवकोंमें यह श्रेष्ठ है। प्रेममें सेवा बहुत है।

यद्रामकृष्ण-चरण-स्पर्श-प्रमोदः। 'स्पर्श'को छन्दके अनुरोधसे 'स्परश' बोलना पड़ेगा। भगवान्‌के चरणारविन्दको अपने वक्षः-स्थलपर धारण करनेमें बड़ा आनन्द आता है—गिरिराज ऐसी सेवा करता है। टीकाकारोंने इस श्लोकके अर्थमें गजब ढाया है।

पूजा पाँच प्रकारसे होती है, दस तरहसे पूजा होती है, सोलह तरहसे पूजा होती है, अट्ठारह तरहसे पूजा होती है, साठ तरहसे पूजा होती है, चौंसठ तरहसे पूजा होती है—पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार, अष्टादशोपचार, विंशोपचार, षष्ट्युपचार, चतुःषष्ट्युपचार, राजोपचार, महाराजोपचार! 'यह भगवान् श्रीकृष्णकी कैसी पूजा करता है? तो बोले : 'चौंसठ प्रकारसे।'

मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत्। यह नहीं कि केवल उन्हींकी पूजा करता है, उनके साथ जो गौएं आती हैं, ग्वाले आते हैं उनकी भी पूजा करता है।

'मानं तनोति' : सम्मान देता है। सूखा सम्मान नहीं : **पानीय सूयवस कन्दरकन्दमूलैः।** यहाँ पानीके ऐसे झरने फूट निकलते हैं जिनमें अमृत बहता है। मानसी-गंगा प्रकट होती है। गिरिराजमें 'यवस' याना हरी-हरी घास निकलती है। वर्षामें रक्षाके लिए 'कन्दरा', आगमें भूनकर खानेके लिए 'कन्द' और कच्चा ही खानेके लिए 'मूल' होता है। मूल कच्चा खाया जाता है और कन्द भूनकर है।

श्रीकृष्णकी गिरिराज ऐसी सेवा करते हैं। तो, गोपियाँ सोचती हैं—अरे यह पत्थरोंका, चट्टानोंका बना पहाड़! इसको तो श्रीकृष्णकी चरणसेवाका इतना अवसर मिलता है, पर हम मनुष्य, गोपी, उनकी सजातीय प्रेमिकाओं को श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी सेवाका अवसर ही नहीं मिलता!' प्रेम तो सेवा देता है। कहाँ है हमारा प्रेम, जो हम सेवा नहीं कर पाये?

कुल इक्कीस श्लोकोंका यह अध्याय है। इसमें उपक्रमके छह श्लोक हैं और एक है उपसंहारका। बीचमें एक प्रक्षिप्त है। शेष तेरह श्लोकोंमें यह गीत गाया गया है। मैंने पहले आपको

ध्यान खींचा था कि 'तेरह गीतोंमें प्रेमके तेरह अंग प्रकट किये गये हैं। उनमें पक्षीके रूपमें वैठे ऋषि-मुनियोंकी दशाका भी वर्णन है। वेद-धर्मका और वेद फलका परित्यागकर वे वृन्दावनकी शाखाओंपर वैठे हैं। वे वाणीसे मौन हैं, पर उनकी आँखें खुली हुई हैं—श्रीकृष्णका दर्शन कर रही हैं।

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥
(भाग० ४.२९.४६)

अर्थात् जब हृदयमें भावना करनेपर भगवान् अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं, तब लोकनिष्ठा और वेदनिष्ठाका परित्याग होकर सर्वत्र भगवद्भाव एवं सर्वात्मभावका उदय होता है।

भूगोलके भेदसे ईश्वरका भेद नहीं होता। मज़हबके भेदसे धर्मका भेद नहीं होता। भाषाके भेदसे ज्ञानका भेद नहीं होता। भाषा कोई भी हो, उसमें यथार्थका वर्णन होना चाहिए। मज़हब कोई भी हो, उसमें पूर्णताको प्राप्त करानेवाला धर्म होना चाहिए, संकीर्णतामें रखनेवाला नहीं। ईश्वरके हम चाहे किसी नाम-रूपका वर्णन करें, वह अद्वितीयतामें ही पर्यवसित होना चाहिए।

तो, ऋषि लोग पक्षी बन-बनकर, अपने ऋषित्वका परित्याग कर, वेदशाखाको छोड़ वृन्दावनके वृक्षोंकी शाखाका आलम्बन लेकर, वाणीद्वारा वेदका उच्चारण न कर, मौन होकर और अन्तर्दृष्टिसे नहीं, खुले नेत्रोंसे परमेश्वरका दर्शन करते हैं। यह है दर्शन ! मैंने पहले 'वियोगी हरि'जीका 'प्रेम-योग' पढ़ा था। उसमें एक पद था :

नहिं कराय सकें षड्दर्शन दरसन तेरो प्यारो।
खोर है रसकी साँकरिया।
यामें चलै न काऊ गरबकी लैके गागरिया॥

लौकिक-वैदिक धर्मके परित्यागके बाद ही श्रीकृष्णका दर्शन होता है।

इसके बाद है नदियों द्वारा आत्मसमर्पण। उसके बाद दो गीत और हैं, फिर गिरिराज द्वारा सेवा है। देखें लोक-वेदके धर्मका परित्याग, आत्म-समर्पण और सेवा! सबसे बड़ी शूरता क्या है? मनुष्यके जीवनकी बुरी आदतोंपर विजय प्राप्त करना।

आजकल 'हृदय-परिवर्तन' शब्द तो बहुत चलता है, पर हुक्म देने या आदेशसे हृदय-परिवर्तन नहीं होता। हृदय-परिवर्तनके लिए भी कोई रासायनिक प्रक्रिया चाहिए। जैसे तांबेको सोना बनानेके लिए रासायनिक प्रक्रिया होती है, तो कठोर हृदयको कोमल बनानेके लिए भी वह होनी चाहिए। हृदयमें कठोरता क्या है? यह ममता-मोह पकड़ बैठा है। संसारकी वस्तुएँ तब पकड़ी जाती हैं जब हृदय कठोर होता है। हृदयको ऐसा कोमल बनायें कि उसकी पकड़ ढीली पड़ जाय।

आप अपने हृदयको आज्ञा दे दें कि 'तू शिथिल बन जा, कोमल हो जा।' इसमें कोई ऐसा मसाला लगायें जिससे यह गल जाय। वह मसाला है भगवान्‌का प्रेम। यदि आपमें भगवत्-प्रेम आ जाय, तो क्या हृदयमें किसीसे वैमनस्य रखना पसन्द करेंगे? क्या प्रियतम प्रभुके बदले शत्रुका ध्यान करेंगे? क्या आप कोई विद्रोह कर सकेंगे? दूसरेको भूखा मरते देखकर भोजन कर सकेंगे?

भगवत्-प्रेम संग्रहीके हृदयको कोमल करता है तो 'असंतोष चिरजीवी हो' के नारे लगानेवालोंका हृदय कोमल भी करता

है। यदि आपके हृदयमें भगवत्-प्रेम आ जाय तो शान्ति ही शान्ति है। शान्ति तो छोटी चीज है। चुपचाप बैठने और आनन्दसे भर-भरकर नाचनेमें जितना फर्क है, शान्ति और प्रेममें उतना ही फर्क है। शान्ति चुपचाप बैठी रहती है तो प्रेम रसमें भर-भरकर नाचता है। रसाल्लासका नाम प्रेम है। योगी और ज्ञानी तो बैठे ही रहेंगे। आओ, प्रेमियोंकी चर्चा करें।

यहाँ श्रीकृष्णकी झाँकीका बहुत विलक्षण वर्णन है। एक बात और ध्यानमें रखें—यह मात्र हिन्दूके लिए, ब्राह्मणके लिए नहीं। यह न केवल भारत राष्ट्रके लिए है और न केवल इतिहासके एक हिस्सेके लिए है। यह सार्वभौम, शाश्वत और सार्वजनिक है। सभी इसके अधिकारी हैं। देखें, हमारे ईश्वरका रूप !

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥ १९ ॥

वेणुस्वन वृक्षोंके हृदयमें प्रेमका संचारकर उन्हें रोमांचित कर देनेवाला और बड़े बड़े उड़नेवाले सिद्धोंकी भी गति रोक देनेवाला है :

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्। जो लोकमें प्रगति कर रहे हैं, जो स्वर्गकी गति प्राप्त कर रहे हैं, जो सिद्धलोकमें पूर्ण हैं, जो मोक्षरूप सद्गति प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें कह दिया कि 'हट जाओ। 'अस्पन्दनम्' : जरा भी मत हिलो-डुलो। थोड़ा भी हिलने-डुलनेका नाम 'स्पन्दन' है। ठहरो, यहाँ जितना आनन्द है, यहाँ जितना रस है, और कहीं नहीं है। 'पुलकस्तरूणाम्' : देखो तो यहाँ, वृक्षोंको भी रोमांच हो रहा है, लताएँ मुस्कुरा रही हैं।

यह सभी सात्त्विक भावोंका उपलक्षण है। रसमें जितने सात्त्विक भाव, अनुभाव होते हैं, सबका यह उपलक्षण है। क्या हुआ? बोले : 'आओ, एक झाँकी देखें!'

कृष्ण चल रहे हैं। कहाँ चल रहे हैं? वैकुण्ठमें या गोलोकमें? बोले : 'नहीं, अनुवनम् = वनं वनम्, अनुवनम्'—एक वनसे दूसरे वनमें, दूसरेसे तीसरे वनमें। बड़े गौरवसे छाती ठोंककर श्रीकृष्णने कहा है :

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः॥
(भाग० १०.२४.२४)

अर्थात् 'पिताजी! हमारे पास गाँव नहीं, जनपद नहीं, और न नगर ही हैं। 'वयं वनौकसः'—हम तो वनवासी हैं। 'वनशैलनिवासिनः'--हम रहते हैं पहाड़ों और जङ्गलोंमें।'

तो, श्रीकृष्ण कहाँ यात्रा करते हैं? एक वनसे दूसरे वनमें, दूसरे वनसे तीसरे वनमें। यह उनकी यात्रा है। अच्छा, किनके साथ यात्रा करते हैं? कौन-से देवता, कौन-से ऋषि, कौन-से मुनि, कौन-से राजा, कौन-से रईस उनके साथ हैं? किनके साथ वनसे वनमें जा रहे हैं? तो कहते हैं :

गा गोपकैरनुवनम्। ग्वाल-बाल, गाय चरानेवाले चरवाहोंके साथ। गाय तो दूध देती है और श्रीकृष्णको बछड़ा बनकर उनका दूध पीनेमें आनन्द आता है। 'गोपकैः' शब्दका अर्थ है बड़े-बड़े गोप नहीं, अल्प, नन्हें। यहाँ 'क'प्रत्यय अल्पार्थक है यानी छोटे-छोटे गोपः 'अल्पाः गोपाः गोपकाः, तैः गोपकैः सह।' श्रीकृष्ण किसी राजा-रईस ऋषि-मुनिके साथ नहीं, छोटे-छोटे ग्वाल-बालोंके

साथ चल रहे हैं। न उनकी जाति ऊँची है, न ज्ञान और न आचार ही ऊँचा है। बड़ेकी शोभा ही तब होती है जब उसके साथ छोटा हो। जिसके साथ छोटे नहीं, उसका बड़प्पन कैसे जाहिर होगा? बड़प्पन जाहिर करनेके लिए भी छोटोंका साथ होना आवश्यक है। यदि जीव न हों, तो ईश्वर किनका हो?

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं: **ईशितव्याभावे ईश्वराभावप्रसङ्गः।** अर्थात् यदि प्रकृति और पुरुष न होंगे तो ईश्वर किसका होगा? यदि शिष्य नहीं होंगे तो गुरु किसका? यदि ईशितव्य नहीं तो ईश्वर किसका?

एक पुरानी बात हमें याद आती है। हम बचपनसे साधुओंके चक्करमें बहुत रहते हैं। एक महात्मापर हमारी बहुत बड़ी श्रद्धा थी। मालवीयजी भी कभी-कभी उनका दर्शन करने जाते। एक-बार तो मुखर्जी भी गये। महामहोपाध्याय पद्मभूषण प० गोपी-नाथ कविराजजी तो उनके घरके पीछे ही रहते थे। तो, एक-बार हम उसके पास बैठे थे। उन्होंने कहा: 'संसारमें वर्ग केवल दो ही हैं (आप लोग बुरा न मानें, यह बात चालीस बरस पहले की है): एक वर्ग वह है, जो माटीसे अन्न बनाता है और दूसरा वर्ग वह है, जो बने-बनाये अन्नको माटी कर देता है। बस, सृष्टिमें दो ही वर्ग हैं।'

तो, ईश्वर कहाँ रह रहा है? छोटे-छोटे गाँवके गँवार ग्वालों-के बीच। और काम क्या कर रहा है? 'गागोपकैरनुवनं नयतः— वनसे वनमें गोचारण कर रहा है और साथी छोटे-छोटे ग्वाल हैं। वह भी एक दिनकी बात नहीं—'अनुदिनम्' यानी प्रतिदिन। सारांश, स्थान है वन, काम है प्रतिदिनका, साथी हैं ग्वाल-बाल और

कामका प्रकार है गोचरण—गाय चराना। उसीका नाम ईश्वर हो सकता है जो हमारी गायें चराये, हमारे ग्वाल-वालोंमें रहे, जो अपना नाम 'कृष्ण यानी किसान रखनेमें ही खुश हो।' कृष् कर्षणे' बिल्कुल वही धातु है—'कर्षति इति कृष्णः' यानी किसान। वह हमारे हृदयमें भी खेती करता है। गायों (इन्द्रियों) का उन्नयन करता और बाँसुरी बजाता है।

एक हँसीकी बात बताते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल विलायतसे जब एक अंग्रेज आया तो कलकत्तेमें उसने सुना कि हिन्दू लोग बहुत-से ईश्वर मानते हैं। उसने कहा : 'तुम लोग अपने ईश्वरके चित्र ले आओ, देखें हमें कौन पसन्द आता है।' पहले त्रिशूलधारी लाये गये। उसने कहा : 'कोई दुश्मन है, उसे मारनेके लिए यह त्रिशूल रखा है।' फिर चक्रधारी लाये गये तो बोला : 'इसका भी कोई शत्रु है, उसे मारनेके लिए ये चक्र चलाते होंगे।' धनुषधारी लाये गये तो बोला : 'ये जरूर निशाना मारते होंगे।' लेकिन जब बांसुरीवाला आया तो वह बोला : 'हाँ' इसे किसीका डर नहीं। यह चैनकी वंसी बजाता है। इसका न कोई शत्रु है मारनेके लिए और न इसे किसीका डर है। स्वयं अभय है और दूसरोंको भी अभय देता है।'

वेणुस्वनैः। यह वेणुध्वनिसे स्वयं आनन्द ले रहा है। इस वेणुमें जो स्वन है, वह केवल ध्वन्यात्मक ही नहीं, पदात्मक भी है। इसीलिए कहते हैं : **कलपदैः।** जैसे बालककी तोतली बोली सुननेमें प्रिय लगती है, वैसी ही यह वंशीकी ध्वनि है।

कल एक सज्जन आये, देश-विदेशमें बड़े विख्यात हैं। उन्होंने थोड़ी देर बाँसुरी बजायी। इसे 'सुषिर-वाद्य' कहते हैं। हृदयकी राग-रागिनियोंको अपने प्राणोंमें भरकर बाँसुरीसे उड़ेल दिया जाता है।

कलपदै। यह 'कल' क्या है?' 'क्लीं' है। यह काम-बीज, कृष्णबीज और कालो-बीज है। काली-बीज होनेसे यह शक्तिबीज और काम-बीज होनेसे हमारी इच्छाओं, अभिलाषा-लालसाओंका एक मूर्तरूप हुआ। साथ ही यह कृष्ण-बीज, भगवद्‌बीज भी है। बाँसुरीसे जो ध्वनि निकलती है उसमें 'कल'(र) लगा, यानी उसमें शक्ति है, हमारे मनोरथोंकी पूर्ति है। उसमें हमारे प्रियतम प्रभु हैं।

उदारवेणुस्वनैः। जो अपनी शक्तिसे अधिक देता है, उसको 'उदार' कहते हैं। रन्तिदेव उदार थे, रघु उदार थे। 'उदार' शब्दकी व्युत्पत्ति है 'उत्=ऊर्ध्वम्, शक्तेः, आ=समन्तात्, राति= ददाति इति उदारः।'

एक सज्जन शंकरजीका दर्शन करने गये तो दरवाजा बन्द! एक दिन, दो दिन, तीन दिन बीते, फिर भी द्वार बन्द! नन्दीजीने देखा कि वे बहुत व्याकुल हो रहे हैं। उन्होंने कहा: 'जाकर कहो कि नन्दीने भेजा है आपके दर्शनके लिए।' शंकरजी बोले: 'अच्छा नन्दीने भेजा है?' तो द्वार खुल गया। सारांश, जहाँ स्वामी अपने-को देनेमें कृपणता करता है, वहाँ सेवक भी स्वामीका दान कर सकता है, यह भगवद्रीति है। भगवान् किसीके सामने अपनेको प्रकट नहीं करते और भक्त कह दे कि 'भगवन्! इसके सामने प्रकट हो जायँ' तो वे प्रकट हो जाते हैं।

प्रेम कनोडो रामसों त्रिभुवन तिहुंकाल न भाई।

कृष्ण हमें कोई चीज न दें और दें भी तो कुछ काल-विशेषमें और कुछ भक्त-विशेषको दें। किन्तु यह वंशीध्वनि तो जिनके द्वारा बजायी गयी है, उन्हीं अपने बजानेवालेका दान करती फिरती है। यह है वंशीकी उदारता! स्वामीने कहा: 'भाई! यह काम

करनेका मेरा मन नहीं है।' सेवकने कहा : मैं कह आया हूँ।' 'अच्छा भाई, मेरी बात झूठी भले ही हो जाय, तेरी झूठी नहीं होनी चाहिए।'

कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो सकती है, अतः तुम प्रतिज्ञा करो, ताकि वह झूठी न हो।

कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः। शरीरधारीमात्र साथ ही नाचने लगते हैं।

जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥
देखन कहुं प्रभु करुनाकन्दा। प्रगट भये सब जलचरवृन्दा॥
तिन्हकीं ओर न देखिअ बारी। मगन भये हरिरूप निहारी॥
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहिं जाहिं।

बन्दर जलचरों पर चढ़-चढ़कर पार जाते हैं।

कहहु सखि असको तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥

राम अपने रूप द्वारा मोहित करते हैं, तो श्रीकृष्ण अपनी वंशी द्वारा। गन्धका ग्रहण नासिकासे होता है, कारण वह पृथिवी-की वस्तु है। स्वाद रसना द्वारा गृहीत होता है, क्योंकि वह जलकी वस्तु है। सुन्दरताका नेत्रोंसे ग्रहण होता है, जो तेजकी वस्तु है। स्पर्श त्वचासे ग्रहण होता है, जो वायुकी वस्तु है। और ध्वनि या शब्दका श्रोत्रसे ग्रहण होता है, जो आकाशकी वस्तु है। आकाश व्यापक है। जहाँ पृथिवी, जल, तेज और वायुकी गति नहीं होती वहाँ भी ध्वनिकी गति है। वह सर्वव्यापी आनन्दका वितरण कर रही है। वायव्य, तैजस, जलीय और पार्थिव शरीरवालोंमें परमानन्दका वितरण कर रही है।

निर्योगपाश-कृतलक्षणयोर्विचित्रम् । अब रूप-माधुरीका भी वर्णन कर लें। रूप-माधुरीका ऐसा सुन्दर वर्णन है कि निराकार ईश्वरका वैसा वह वर्णन हो ही नहीं सकता, इसलिए निराकारकी चर्चा ही छोड़ दो। फिर साकार भगवान्‌का जो वर्णन आता है, उसमें भी श्रीकृष्णका जो एक लक्षण यहाँ बताया गया है, वह संसारमें किसी भी साकार रूपमें लागू नहीं होता। यहाँ 'लक्षण' शब्दका ही प्रयोग किया है : कृतलक्षणयोः।

आओ, कृष्णको पहचानें। गायको पहचानना हो तो क्या करेंगे? बोले : भाई, सास्नादिमत्त्वं गोत्वम्, जिसके गलेमें 'ललरी' लटकती है उसका नाम 'गाय' है। गलकम्बल या ललरीको संस्कृत भाषामें 'सास्ना' कहते हैं। यह गायका लक्षण है, गधे या घोड़ेका नहीं। तो, आओ, हम अपने कृष्ण-कन्हैयाका लक्षण बतायें : निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् । निर्योग और पाश! निर्योग यानी गाय दुहते समय जो उसके पाँवमें नुआना बाँधते हैं। आप लोग तो बहुत-से वैज्ञानिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं। हिन्दीमें भी देहाती शब्दका प्रयोग छूट गया हो तो क्या बड़ी बात है। संस्कृत-में 'निर्योग' शब्द है और उसका हमारे गाँवकी हिन्दीमें 'नुआना' अर्थ होता है। और एक होता है पाश=फन्दा। जब गाय उच्छृङ्खल होकर इधर-उधर भागने लगती है तो उसे फँसानेके लिए एक फँदा लगाया जाता है। वह यहाँ क्या है? फंदा जरा बड़ा है। उसकी पगड़ी बाँध रखी है सिरपर। और नुआना जरा छोटा है तो उसे गलेमें मालाकी तरह पहन रखा है। क्या है कोई आपके पास ऐसा कोई दूसरा ईश्वर? यह उसका लक्षण है।

अब इसका दूसरा अर्थ सुनें। संसारमें होता है 'पाश' और योगमें होती है 'समाधि'। योग है व्यवहारशून्य और पाशमें व्यवहार तो है, पर उसमें बन्धन है। तो, यह ईश्वर आया तो

इसने क्या किया ? 'योगपाशाभ्यां निष्क्रान्तं निर्योगपाशम्, निर्योगपाशं यथा स्यात्तथा कृतलक्षणयोः।' योग और पाश, इन दोनोंसे रहित होना ही उसका लक्षण है। आपके सामनेवाले इस श्रीकृष्णमें न समाधि है, न वंधन। समाधि अव्यवहार्य है। माण्डूक्योपनिषद्में ब्रह्मके लिए इसी शब्दका प्रयोग है: अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम्। ब्रह्म कर्माङ्ग नहीं, उपासनाङ्ग नहीं और योगाङ्ग भी नहीं है। वह किसीका अंग नहीं है, यह बतानेके लिए ऐसा बोलते हैं। तो, श्रीकृष्ण क्या हैं ? वे न योगकी समाधि हैं औ न संसारका बन्धन। दोनोंके बीचसे बच निकलो और रसके समुद्रमें चलकर डूब जाओ। यह है कृष्णका लक्षण !

लक्षण यानी लखानेवाला, जिससे लखाया जाय। यह लक्षण ही तो 'लखाना' बन गया है। बोले: भाई आओ, आगे-आगे गौएँ वन-वनमें डोल रही हैं और पीछे-पीछे कृष्ण-बलराम ! उनके साथ नन्हें-नन्हें ग्वाल-बाल हैं और बाँसुरी बज रही है। उसमें ध्वनि भी है और काम भी। उसमें शक्ति है, प्रेम और भगवान् हैं। प्रेममें बड़ी शक्ति है। गोस्वामीजीने प्रेमके वश ही आधी रातको नदी पार कर ली। प्रेम ही तो परिवर्तन करता है। आप यदि प्रेम करो तो आपसे कोई कबतक द्वेष करेगा ? प्रेम करनेसे जड़ चेतन हो जाता है, मूर्ख ज्ञानी, तो अपवित्र पवित्र हो जाता है। दुःखी प्रेम प्राप्तकर आनन्दमें मग्न हो जाता है।

अस्पन्दनं गतिमताम्—प्रेमसे स्वभाव बदल गया। प्रेमने देहधारियोंको दिव्य बना दिया। वन, गाय, ग्वाले, वृक्ष-लताएँ, सबको दिव्य बना दिया। यह है प्रेमकी सामर्थ्य। यह है वेणुगीतके सम्बन्धमें गोपियोंका ज्ञान।

केवल ईश्वरके माननेपर भी आप आस्तिक कहे जा सकते हैं। जो लोग मरणोत्तर आत्माको स्वीकार करते हैं, महर्षि पाणिनि उन्हें आस्तिक मानते हैं। जैन भी आस्तिक हैं और बौद्ध भी आस्तिक; क्योंकि मरणोत्तर आत्माको वे भी स्वीकार करते हैं। हम उनकी आस्तिकताका अभिनन्दन करते हैं। किन्तु आस्तिकताके साथ एक रसिकता भी होती है, एक भक्ति, एक प्रेम भी होता है। हमने आचार्य हेमचन्द्रसूरिकी स्तुतियाँ पढ़ी हैं; कितनी भावुकतापूर्ण हैं !

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
प्रविभक्तासु न तासु दृश्यसे प्रविविक्तासु सरित्स्विवार्णवः॥

यह हेमचन्द्राचार्यका श्लोक है। अर्थात् जैसे सारी नदियाँ समुद्रकी ओर जा रही हैं, वैसे ही संसारकी सारी दृष्टियाँ आपके लिए ही खुली हैं, आपको ही छू रही हैं। समन्वय तो है ही। वही धर्मका प्राण है, उसके बिना धर्म एकांगी, नश्वर और जातीय हो जाता है। यदि सभी धर्म मिलकर एक जगह न पहुँचायें या एक जगह पहुँचनेमें मदद न करें तो क्योंकर उसे रखें ?

धर्म केवल चिद्रूप ही नहीं, आनन्द और रसप्रधान भी होता है। एक झाँकी करो—ऋषि-मुनियोंने देखा कि श्रीकृष्ण गोचारणके लिए जा रहे हैं—ब्रह्मा, इन्द्रादिने हाथ जोड़ लिये, सिर झुका दिये, तो ऋषि-मुनियोंने उनका दर्शन कर लिया। पर गोपीके हृदयमें जो रस है. वह न तो ब्रह्मा-रुद्रके हृदयमें आया, न किसी ऋषि-मुनिके। गोपीका हृदय तो वियोगकी स्फूर्तिमात्रसे ही व्याकुल हो गया :

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां ता-
    माधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।

गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षै-
दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेऽस्तु राधा ॥
(राधासुधानिधिस्तोत्र, ४८)

श्यामसुन्दर गोचारणके लिए वनमें गये तो राधारानीका, गोपी-का समय कैसे कटे ? अपना प्रियतम आँखोंके सामने नहीं—ऐसा समय तो बहुत रहता है और आँखोंके सामने रहे—ऐसा समय बहुत कम। तो, उन्होंने मधुमती वीणा गोदमें ले ली और नागर-शिरोमणिकी लीलाका गान करने लगीं। तुम्हारे मनको खींचनेके लिए दुनियामें बहुत-सी चीजें हैं। यदि ईश्वर तुम्हें ऐसे ही छोड़ देगा—तुम्हारा मन नहीं खींचेगा तो दुनियावाले तुम्हारे मन को लूट ले जायँगे। ईश्वर विचार करता है कि हमारे जीवों, भक्तों, प्रेमियों या हमारे अंशोंका मन दूसरा कोई लूट न ले जाय, हम ही लूट लें।

यह भावमयी लीलाका गान हो रहा है। यहाँ आस्तिकता-मात्र नहीं है। ब्रह्मादि आस्तिक हैं, ऋषि-मुनि आस्तिक हैं। वे श्रीकृष्णको देखकर नमस्कारभर कर देते हैं। लेकिन श्रीकृष्णका दर्शन न होनेपर गोपियोंके लिए दिन अपार हो जाता है। आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगती है। श्रीकृष्णके वियोगमें राधा उनके गुणका, लीलाका, रूपका ध्यान कर-कर अपना समय व्यतीत करती है।

तो, ब्रह्मादिमें आस्तिकता सामान्य है और गोपियोंमें रसानु-भूति विशेष है। उनका समय कैसे बीतता होगा ? श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं :

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥ २० ॥

'शुद्धं कायति इति शुक।' आप जानते हैं—दक्षिणी लोग 'गायति' वोलना पसन्द नहीं करते, 'कायति' कहते हैं। अर्थात् जो शुद्ध गान करे, उसका नाम है 'शुकदेव'। गान आपके हृदयको निर्मल, पवित्र करनेवाली वस्तु है।

भगवान्‌की लीलाएँ तो बहुत हैं, पर गोपियाँ उन्हीं लीलाओंका वर्णन करती हैं जो वृन्दावनचारी भगवान्‌की हैं, जो वृन्दावनके कुञ्जनमें संचारकी लीलाएँ हैं। यमुनातटपर संचरण करनेवाली प्रत्येक गौर-वालिका राधा और प्रत्येक साँवरा वालक श्रीकृष्ण है। गोपियाँ परस्पर गौर-श्याम, ललित-लोल, वृन्दावन-संचारी भगवान्‌की लीलाका गान करती हैं और फिर 'तन्मयतां ययुः'—तन्मय हो जाती है।

यह प्रेमकी परिणति वतायी है। एक-एक श्लोकको अपूर्वता, वैशिष्ट्यपर ध्यान दें : इत्थं शरत्स्वच्छजलम् से लेकर और तन्मयतां ययुः तक। गोपियाँ तन्मय यानी कृष्णमय हो गयीं। कृष्ण द्वारा जो क्रीड़ा सम्पन्न हो रही है, अव गोपियों द्वारा वही क्रोडा सम्पन्न हो रही है। तन्मयताका अर्थ ही यह है। आप किसीका ध्यान करते और तन्मय नहीं होते तो वह ध्यान कैसा ? किसोसे प्रेम करते और तन्मय नहीं होते तो वह प्रेम कैसा ? किसीकी सेवा करते हैं और तन्मय नहीं होते, तो वह सेवा कैसी ?

अच्छा, एक बात और सुन लें। हमारे मधुसूदनसरस्वतीजी 'अद्वैतसिद्धि'के अन्तमें बोलते हैं :

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम्।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥

अर्थात् इस ग्रन्थका जो कर्ता है, आप उसकी स्तुति करें, चाहे निन्दा ! जिसके आत्मामें किसी अन्यका अनुभव ही नहीं, वैसे मुझमें 'कर्तृत्व' ही नहीं है। वैष्णवाचार्य बोलते हैं :

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥

जो किया, जो कुछ करूँगा, वह मैंने नहीं किया। तुमने ही किया है, अतः उसका फल भी तुम ही भोगो।

वक्ता तभी बोलता है, जब श्रोता श्रवणका संकल्प कर बैठता है। श्रोताका संकल्प ही शब्दका रूप धारण करता है। वक्ता तो रेडियो है, बोलनेवाला कोई और ही है। ब्राडकास्ट तो कहीं और ही जगहसे हो रहा है। हमें तो स्टेशनोंकी भी पहचान नहीं कि यह कहाँसे ब्राडकास्ट हो रहा है। आप सब श्रोता इतने प्रेमसे इतनी श्रद्धासे अपने घरका बढ़िया फर्नीचर, 'एयर कंडीशन' छोड़कर, यहाँ धरतीपर बैठते हैं और शान्त होकर सुन रहे हैं। यदि आपकी प्रीति सुननेमें न हो तो इतना कष्ट क्यों करते ? इतना समय क्यों खर्च करते ?

तो, यहाँ भी आप सबका जो भाव है वही बोल रहा हूँ, मैं नहीं। मैं समाजसेवी संस्थाओंमें जाता हूँ तो दूसरे ढंगसे बोलता हूँ। कभी आर्यसमाजके मंचपर जाना पड़ता है तो वेद की महिमा बोलता हूँ। कभी साधुओंमें जाना होता है तो साधुओंकी बातें करता हूँ। कभी निराकारियोंमें जाना होता है तो निराकारकी बातें बनाता हूँ। और कहीं निर्गुण अद्वैतवादियोंके बीच जाना पड़ा तो आप वहाँ बिल्कुल नहीं पहचान सकते कि जो वेणुगीतकी कथा कर रहा था, क्या वह यही है ?

जो लोग यह आयोजन करते हैं वे क्या सोचते हैं, हमें मालूम नहीं। जो सच्ची बात है, वही आपको सुनाता हूं। मैं अन्तर्यामी नहीं। दूसरेके मनकी बात नहीं जानता। मुझमें कोई चमत्कार नहीं। हम न माला हाथमें लेकर जपते हैं, न पूजा करनेके लिए बैठते हैं और न समाधि लगाते हैं। ज्यादातर लेटे ही रहते हैं। इसलिए कोई ऐसी बात नहीं, जिसकी प्रशंसा के लिए कोई जगह हो। मैं तो उन लोगोंका कृतज्ञ, आभारी होता हूँ जो मुझे भगवद्-विषयपर बोलनेका सुयोग देते हैं; क्योंकि यदि वे ऐसी व्यवस्था न करें तो मेरे मुँहसे भगवान्‌की कथा भी न निकले। यदि सुननेवाले श्रोता, प्रेरणा देनेवाले प्रेरक और व्यवस्था न हों तो भगवत्कथा कैसे हो?

हमें तो अपने शून्य चित्रमें जो दीखता है, अपने कृष्णाकार चित्तमें भी वही दीखता है। यह आप लोगोंकी कृपा है। श्रीमती सरला वसन्तकुमार बिड़ला, इसका परिवार हमें बोलनेके लिए अवसर देता है। जो भगवद्रसके वर्णनका अवसर देता है, वह हमें रस देता है। पहले हमें रस आ लेता है, तब हम बाँटते हैं—पी लेते हैं तब पिलाते हैं। हम ऐसे साकी नहीं जो दूसरोंको पिलाये और खुद न पियें। यह अवसर आप सब लोगोंके संकल्पसे, प्रेरणासे, व्यवस्थासे प्राप्त होता है, इसलिए मैं सबके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



परिशिष्ट :

वेणुगीत-भाषानुवाद

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! शरद् ऋतुके कारण वह वन बड़ा सुन्दर हो रहा था। जल निर्मल था और जलाशयोंमें खिले हुए कमलोंकी सुगन्धसे सनकर वायु मन्द-मन्द चल रही थी। भगवान् श्रीकृष्णने गौओं और ग्वालबालोंके साथ उस वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे परिपूर्ण हरी-हरी वृक्ष-पंक्तियोंमें मतवाले भौंरे स्थान-स्थानपर गुनगुना रहे थे और तरह-तरहके पक्षी झुंडके झुंड अलग-अलग कलरव कर रहे थे, जिससे उस वनके सरोवर, नदियाँ और पर्वत—सब-के-सब गूँजते रहते थे। मधुपति श्रीकृष्णने बलरामजी और ग्वालबालोंके साथ उसके भीतर घुसकर गौओंको चराते हुए अपनी बाँसुरीपर बड़ी मधुर तान छेड़ी ॥ २ ॥

श्रीकृष्णकी वह वंशीध्वनि भगवान्‌के प्रति प्रेमभावको, उनके मिलनकी आकाङ्क्षाको जगानेवाली थी। (उसे सुनकर गोपियों-का हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया) वे एकान्तमें अपनी सखियोंसे उनके रूप, गुण और वंशीध्वनिके प्रभावका वर्णन करने लगीं ॥३॥

व्रजकी गोपियोंने वंशीध्वनिका माधुर्य आपसमें वर्णन करना चाहा तो अवश्य; परन्तु वंशीका स्मरण होते ही उन्हें श्रीकृष्णकी मधुर चेष्टाओंकी, प्रेमपूर्ण चितवन भौंहोंके इशारे और मधुर मुसकान आदिकी याद हो आयी। उनकी भगवान्‌से मिलनेकी आकाङ्क्षा और भी बढ़ गयी। उनका मन हाथसे निकल गया।

वे मन-ही-मन वहाँ पहुँच गयीं, जहाँ श्रीकृष्ण थे। अब उनकी वाणी बोले कैसे ? वे उसके वर्णनमें असमर्थ हो गयीं ॥ ४ ॥

(वे मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिरपर मयूर-पिच्छ है और कानोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्प; शरीरपर सुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैजयन्ती माला है। रंगमञ्चपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटका-सा क्या ही सुन्दर वेष है ! बाँसुरीके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वह वृन्दावनधाम उनके चरणचिह्नोंसे और भी रमणीय बन गया ॥ ५ ॥

परीक्षित् ! यह वंशीध्वनि जड़, चेतन—समस्त भूतोंका मन चुरा लेती है। गोपियोंने उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं। वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्णको पाकर आलिङ्गन करने लगीं ॥ ६ ॥

गोपियाँ आपसमें बातचीत करने लगीं—अरी सखी ! हमने तो आँखवालोंके जीवनकी और उनकी आँखोंकी बस, यही—इतनी ही सफलता समझी है; और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है। वह कौन-सा लाभ है ? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वालबालोंके साथ गायोंको हाँककर वनमें ले जा रहे हों या लौटाकर व्रजमें ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरोंपर मुरली धर रक्खी हो और प्रेमभरी तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरीका पान करती रहें ॥ ७ ॥

अरी सखी ! जब वे आमकी नयी कोंपलें, मोरोंके पंख, फूलोंके

गुच्छे, रंग-बिरंगे कमल और कुमुदकी मालाएँ धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्णके साँवरे शरीरपर पीताम्बर और बलरामके गोरे शरीरपर नीलाम्बर फहराने लगता है, तब उनका वेष बड़ा विचित्र बन जाता है। ग्वालबालोंकी गोष्ठीमें वे दोनों बीचोबीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीतकी तान छेड़ देते हैं। मेरी प्यारी सखी! उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रंगमञ्च-पर अभिनय कर रहे हों। मैं क्या बताऊँ कि उस समय उनकी कितनी शोभा होती है ॥ ८ ॥

अरी गोपियों! यह वेणु पुरुषजातिका होनेपर भी पूर्वजन्ममें न जाने ऐसा कौन-सा साधन-भजन कर चुका है कि हम गोपियों-की अपनी सम्पत्ति—दामोदरके अधरोंकी सुधा स्वयं ही इस प्रकार पिये जा रहा है कि हम लोगोंके लिये थोड़ा-सा भी रस शेष नहीं रहेगा। इस वेणुको अपने रससे सींचनेवाली ह्रदिनियाँ आज कमलोंके मिस रोमाञ्चित हो रही हैं और अपने वंशमें भगवत्प्रेमी सन्तानोंको देखकर श्रेष्ठ पुरुषोंके समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखोंसे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं ॥ ९ ॥

अरी सखी! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोकतक पृथ्वीकी कीर्तिका विस्तार कर रहा हैं। क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्णके चरण-कमलोंके चिह्नोंसे यह चिह्नित हो रहा है। सखि! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजनमोहिनी मुरली बजाते हैं, तब मोर मतवाले होकर उसकी तालपर नाचने लगते हैं। यह देखकर पर्वतकी चोटियोंपर विचरनेवाले सभी पशु-पक्षी चुपचाप—शान्त होकर खड़े रह जाते हैं। अरी सखी! जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके बाँसुरी बजाते हैं, तब मूढ़ बुद्धिवाली ये हरिनियाँ भी वंशीकी तान सुनकर अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ नन्दनन्दनके पास चली आती हैं और अपनी प्रेमभरी बड़ी-बड़ी आँखोंसे उन्हें

निरखने लगती हैं। निरखती क्या हैं, अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखें श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और श्रीकृष्णकी प्रेमभरी चितवनके द्वारा किया हुआ अपना सत्कार स्वीकार करती हैं।' वास्तवमें उनका जीवन धन्य है। (हम वृन्दावनकी गोपी होनेपर भी इस प्रकार उनपर अपनेको निछावर नहीं कर पातीं, हमारे घरवाले कुढ़ने लगते हैं। कितनी विडम्बना है!) ॥ १०-११ ॥

अरी सखी! हरिनियोंकी तो बात ही क्या है— स्वर्गकी देवियाँ जब युवतियोंको आनन्दित करनेवाले सौन्दर्य और शीलके खजाने श्रीकृष्णको देखती हैं और बाँसुरीपर उनके द्वारा गाया हुआ मधुर संगीत सुनती हैं, तब उनके चित्र-विचित्र आलाप सुनकर वे अपने विमानपर ही सुध-बुध खो बैठती हैं—मूर्छित हो जाती हैं। यह कैसे मालूम हुआ सखी? सुनो तो, जब उनके हृदयमें श्रीकृष्ण-से मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जग जाती है तब वे अपना धीरज खो बैठती हैं, बेहोश हो जाती हैं; उन्हें इस बातका भी पता नहीं चलता कि उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल पृथ्वीपर गिर रहे हैं। यहाँतक कि उन्हें अपनी साड़ीका भी पता नहीं रहता, वह कमरसे खिसककर जमीनपर गिर जाती है॥ १२॥

अरी सखी! तुम देवियोंकी बात क्या कह रही हो, इन गौओं-को नहीं देखतीं? जब हमारे कृष्ण प्यारे अपने मुखसे बाँसुरीमें स्वर भरते हैं और गौएँ उनका मधुर संगीत सुनती हैं, तब ये अपने दोनों कानोंके दोने सम्हाल लेती हैं—खड़े कर लेती हैं और मानो उनसे अमृत पी रही हों, इस प्रकार उस संगीतका रस लेने लगती हैं। ऐसा क्यों होता है सखी? अपने नेत्रोंके द्वारसे श्याम-सुन्दरको हृदयमें ले जाकर वे उन्हें वहीं विराजमान कर देती हैं और मन-ही-मन उनका आलिङ्गन करती हैं। देखती नहीं हो,

उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू छलकने लगते हैं ! और उनके बछड़े, बछड़ोंकी तो दशा ही निराली हो जाती है। यद्यपि गायोंके थनोंसे अपने-आप दूध झरता रहता है, वे जब दूध पीते-पीते अचानक ही वंशीध्वनि सुनते हैं, तब मुँहमें लिया हुआ दूधका घूँट न उगल पाते हैं और न निगल पाते हैं। उनके हृदयमें भी होता है भगवान्‌का संस्पर्श और नेत्रोंमें छलकते होते हैं आनन्दके आँसू। वे ज्यों-के-त्यों ठिठके रह जाते हैं ॥ १३ ॥

अरी सखी ! गौएँ और बछड़े तो हमारी घरकी वस्तु हैं। उनकी बात तो जाने ही दो। वृन्दावनके पक्षियोंको तुम नहीं देखती हो ? उन्हें पक्षी कहना ही भूल है ! सच पूछो तो उनमेंसे अधिकांश बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं ! वे वृन्दावनके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी नयी और मनोहर कोपलोंवाली डालियोंपर चुपचाप बैठ जाते हैं और आँखें बन्द नहीं करते, निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णको रूप-माधुरी तथा प्यारभरी चितवन देख-देखकर निहाल होते रहते हैं तथा कानोंसे अन्य सब प्रकारके शब्दोंको छोड़कर केवल उन्हींकी मोहनी वाणी और वंशीका त्रिभुवनमोहन सङ्गीत सुनते रहते हैं। मेरी प्यारी सखी ! उनका जीवन कितना धन्य है ! ॥ १४ ॥

अरी सखी ! देवता, गौओं और पक्षियोंकी बात क्यों करती हो ? वे तो चेतन हैं। इन जड़ नदियोंको नहीं देखतीं ? इनमें जो भँवर दीख रहे हैं, उनसे इनके हृदयमें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षाका पता चलता है ? उसके वेगसे ही तो इनका प्रवाह रुक गया है। इन्होंने भी प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुन ली है। देखो, देखो ! ये अपनी तरंगोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार चढा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं ॥ १५ ॥

अरी सखी ! ये नदियाँ तो हमारी पृथ्वीकी, हमारे वृन्दावनकी वस्तुएँ हैं; तनिक इन बादलोंको भी देखो ! जब वे देखते हैं कि व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वालबालोंके साथ धूपमें गौएँ चरा रहे हैं और साथ-साथ बाँसुरी भी बजाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमड़ आता है। वे उनके ऊपर मँडराने लगते हैं और वे श्यामघन अपने सखा घनश्यामके ऊपर अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं। इतना ही नहीं, सखी ! वे जब उनपर नन्हीं-नन्हीं फुहियोंकी वर्षा करने लगते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर श्वेत कुसुम चढ़ा रहे हैं। नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर देते हैं ॥ १६ ॥

अरी भटू ! हम तो वृन्दावनकी इन भीलनियोंको ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं। ऐसा क्यों सखी ? इसलिए कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है। जब ये हमारे कृष्ण-प्यारेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है। इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है। उस समय ये क्या उपाय करती हैं, यह भी सुन लो। हमारे प्रियतमकी प्रेयसी गोपियाँ अपने वक्ष:स्थलोंपर जो केसर लगाती हैं, वह श्याम-सुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब वृन्दावनके घास-पातपर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उन्हें उन तिनकोंपरसे छुड़ाकर अपने स्तनों और मुखोंपर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं ॥ १७ ॥

अरी गोपियो ! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ हैं। धन्य हैं इसके भाग्य ! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरणकमलोंका

स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है ! इसके भाग्यकी सराहना कौन करे ? यह तो उन दोनोंका—ग्वालबालों और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान, पानके लिए झरनोंका जल देता है, गौओंके लिए सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है। विश्राम करनेके लिए कन्दराएँ और खानेके लिए कन्द-मूल-फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है। ॥ १८ ॥

अरी सखी ! इन साँवरे गोरे किशोरोंकी तो गति ही निराली है। जब वे सिरपर नोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्सी) लपेटकर और कंधोंपर फंदा (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) रखकर गायको एक वनसे दूसरे वनमें हाँककर ले जाते हैं, साथमें ग्वालबाल भी होते हैं और मधुर-मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छोड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, अन्य शरीरधारियोंमें भी चलनेवाले चेतन पशु-पक्षी और जड़ नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं तथा अचल वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो आता है। जादूभरी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ ? ॥ १९ ॥

परीक्षित् ! वृन्दावनबिहारी श्रीकृष्णकी ऐसी-ऐसी एक नहीं, अनेक लीलाएँ हैं। गोपियाँ प्रतिदिन आपसमें उनका वर्णन करतीं और तन्मय हो जातीं। भगवान्‌की लीलाएँ उनके हृदयमें स्फुरित होने लगतीं ॥ २० ॥



❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

[स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी विरचित]

वेदान्त-उपनिषद	रु० पैसा
१. माण्डूक्य-प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण)	७.५०
२. माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण)	४.५०
३. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	६.००
४. कठोपनिषद्-प्रवचन भाग-१	९.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन भाग २	१२.००
६. मुण्डकसुधा	३.७५
गीता	
७. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय) (द्वि० सं०)	९.७५
८. कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
९. ध्यानयोग (छठाँ अध्याय)	६.००
१०. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	६.००
११. विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१२. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय) (द्वि० सं०)	६.००
१३. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (ते० अ०)	९.७५
भक्ति भागवत	
१४. नारद भक्ति दर्शन (द्वि० सं०)	९.००
१५. वेणु-गीत	३.००
१६. गोपियों के पाँच प्रेम गीत	०.४०
१७. भागवत-विचार दोहन	३ ००
१८. भक्तिसर्वस्व	७ ५०
१९. श्रीमद्भागवत-रहस्य (तृतीय संस्करण)	३.७५

२०.	श्री भक्तिरसायनम् (संस्कृत)	१२.००
२१.	श्री भक्तिरसायन-प्रपा (संस्कृत)	३.००
२२.	स्पन्द-तत्त्व	०.४५
२३.	साधना और ब्रह्मानुभूति	५.२५
२४.	श्री उड़ियाबाबा और मोकलपुरके बाबा	०.३०
२५.	महाराजश्री : एक परिचय	१.००
२६.	आत्मबोध	३.००
२७.	कपिलोपदेश	३.७५
२८.	व्यवहार और परमार्थ	३.७५
२९.	मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
३०.	राम-शताब्दी-स्मृति	२०.००
३१.	श्री उड़िया बाबाजी महाराज	५.००
32.	Glimpses of Life Divine	1.50
33.	An Introduction to a Realised Soul	0.40
34.	Import of the Impersonal	0.30
35.	Ideal and Truth	5.25
३६.	चिन्तामणि (त्रैमासिक पत्रिका) प्रतिवर्ष	६.००

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६

बी० जी० खेर मार्ग, बम्बई—४००००६





सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट